विवेक-ज्योति

वर्ष ४९ अंक ६ जून २०११

रामकृष्ण मिशन
विवेकानन्द आश्रम,
रायपुर (छ.ग.)

॥ आत्मनो मोक्षार्थं जगद्धिताय च ॥

विवेक-ज्योति

श्रीरामकृष्ण-विवेकानन्द भावधारा से अनुप्राणित

हिन्दी मासिक

जून २०११

प्रबन्ध सम्पादक

स्वामी सत्यरूपानन्द

सम्पादक

स्वामी विदेहात्मानन्द

वर्ष ४९
अंक ६

वार्षिक ६०/– **एक प्रति ८/–**

५ वर्षों के लिये – रु. २७५/–
आजीवन (२५ वर्षों के लिए) – रु. १,२००/–
(सदस्यता-शुल्क की राशि स्पीडपोस्ट मनिआर्डर से भेजें अथवा बैंक-ड्राफ्ट – 'रामकृष्ण मिशन' (रायपुर, छत्तीसगढ़) के नाम बनवाएँ

विदेशों में – वार्षिक ३० डॉलर; आजीवन ३७५ डॉलर (हवाई डाक से) २०० डॉलर (समुद्री डाक से)

संस्थाओं के लिये –
वार्षिक ९०/– ; ५ वर्षों के लिये – रु. ४००/–

रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम, रायपुर – ४९२००१ (छ.ग.)

विवेक-ज्योति दूरभाष : ०९८२७१ ९७५३५

आश्रम : ०७७१ – २२२५२६९, २२२४११९
(समय : ८.३० से ११.३० और ३ से ६ बजे तक)

अनुक्रमणिका

मुद्रक : संयोग ऑफसेट प्रा. लि., बजरंगनगर, रायपुर (फोन : ८१०९१ २७४०२)

प्रिंट आर्डर – २३,५००

लेखकों से निवेदन

पत्रिका के लिये रचना भेजते समय निम्न बातों पर ध्यान दें –

(१) धर्म, दर्शन, शिक्षा, संस्कृति तथा किसी भी जीवनोपयोगी विषयक रचना को 'विवेक-ज्योति' में स्थान दिया जाता है।

(२) रचना बहुत लम्बी न हो। पत्रिका के दो या अधिक-से-अधिक चार पृष्ठों में आ जाय। पाण्डुलिपि फूलस्केप रूल्ड कागज पर दोनों ओर यथेष्ट हाशिया छोड़कर सुन्दर हस्तलेख में लिखी या टाइप की हो। भेजने के पूर्व एक बार स्वयं अवश्य पढ़ लें।

(३) लेख में आये उद्धरणों के सन्दर्भ का पूरा विवरण दें।

(४) आपकी रचना डाक में खो भी सकती है, अत: उसकी एक प्रतिलिपि अपने पास अवश्य रखें। अस्वीकृति की अवस्था में वापसी के लिये अपना पता लिखा हुआ एक लिफाफा भी भेजें।

(५) 'विवेक-ज्योति' में प्रकाशनार्थ कवितायें इतनी संख्या में आती हैं कि उनका प्राप्ति-संवाद देना सम्भव नहीं होता। स्वीकृत होने पर भी उसके प्रकाशन में ६-८ महीने तक लग सकते हैं।

(६) अनुवादित रचनाओं के मूल स्रोत का पूरा विवरण दिया जाय तथा उसकी एक प्रतिलिपि भी संलग्न की जाय।

(७) 'विवेक-ज्योति' में प्रकाशित लेखों में व्यक्त मतों की पूरी जिम्मेदारी लेखक की होगी और स्वीकृत रचना में सम्पादक को यथोचित संशोधन करने का पूरा अधिकार होगा।

(८) 'विवेक-ज्योति' के लिये भेजी जा रही रचना यदि इसके पूर्व कहीं अन्यत्र प्रकाशित हो चुकी हो या प्रकाशनार्थ भेजी जा रही हो, तो उसका भी उल्लेख अवश्य करें। वैसे इसमें मौलिक तथा अप्रकाशित रचनाओं को ही प्राथमिकता दी जाती है।

सदस्यता के नियम

(१) 'विवेक-ज्योति' पत्रिका के सदस्य किसी भी माह से बनाये जाते हैं। सदस्यता-शुल्क की राशि यथासम्भव स्पीड-पोस्ट मनिआर्डर से भेजें या बैंक-ड्राफ्ट - 'रामकृष्ण मिशन' (रायपुर, छत्तीसगढ़) के नाम बनवायें। यह राशि भेजते समय एक अलग पत्र में अपना पिनकोड सहित पूरा पता और टेलीफोन नम्बर आदि की पूरी जानकारी भी स्पष्ट रूप से लिख भेजें।

(२) पत्रिका को निरन्तर चालू रखने हेतु अपनी सदस्यता की अवधि पूरी होने के पूर्व ही नवीनीकरण करा लें।

(३) पत्रिका न मिलने की शिकायत माह पूरा होने पर ही करें। उसके बाद अंक उपलब्ध रहने पर ही पुन: प्रेषित किया जायेगा।

(४) अंक सुरक्षित पाने हेतु प्रति अंक ६/- रूपये अतिरिक्त खर्च कर इसे वी.पी. पोस्ट से मँगाया जा सकता है। यह राशि प्रति माह अंक लेते समय पोस्टमैन को देनी होगी, अत: इसे हमें मत भेजें।

(५) सदस्यता, एजेंसी, विज्ञापन या अन्य विषयों की जानकारी के लिये 'व्यवस्थापक, विवेक-ज्योति कार्यालय' को लिखें।

पुरखों की थाती

अलसस्य कुतः विद्या अविद्यस्य कुतः धनम् ।
अधनस्य कुतः मित्रम् अमित्रस्य कुतः सुखम् ।।४८।।

– आलसी व्यक्ति को विद्या नहीं प्राप्त हो सकती, अशिक्षित व्यक्ति धन का उपार्जन नहीं कर सकता; निर्धन व्यक्ति का कोई मित्र नहीं होता और मित्रों के बिना सुख नहीं मिलता।

अभिमान-कृतं कर्म नैतत्फलवदुच्यते ।
त्यागयुक्तं महाराज सर्वमेव महाफलम् ।।४९।।

– हे राजन्! अहंकार से प्रेरित होकर किया गया कर्म फलदायी नहीं माना जाता; त्याग से युक्त सारे कर्म महा-फलदायी कहे गये हैं।

अमंत्रमक्षरं नास्ति नास्ति मूलम् अनौषधम् ।
अयोग्यः पुरुषः नास्ति योजकः तत्र दुर्लभः ।।५०।।

– ऐसा कोई भी अक्षर नहीं है, जो मंत्र न हो; कोई भी ऐसा कन्द-मूल नहीं है, जो दवा न हो; कोई भी ऐसा व्यक्ति नहीं है, जो योग्य न हो; परन्तु उन सभी का उपयोग समझकर काम में लानेवाले व्यक्ति अत्यन्त दुर्लभ हैं।

अष्टादश पुराणेषु व्यासस्य वचनद्वयम् ।
परोपकारः पुण्याय पापाय परपीडनम् ।।५१।।

– भगवान वेदव्यास ने सभी अट्ठारह पुराणों में जो कुछ कहा है, उसका सार दो बातों में कहा जा सकता है और वह यह है कि परोपकार ही पुण्य है और दूसरों को पीड़ा देना पाप।

अपुत्रस्य गृहं शून्यं सन्मित्ररहितस्य च ।
मूर्खस्य च दिशः शून्याः सर्वशून्या दरिद्रता ।।५२।।

– पुत्रों और अच्छे मित्रों के अभाव में घर सूना रहता है। मूर्ख के लिए सभी दिशाएँ शून्य रहती हैं और निर्धन व्यक्ति के लिए तो पूरा ब्रह्माण्ड ही सूना रहता है।

अशनं मे वसनं मे जाया मे बन्धुवर्गो मे ।
इति मे मे कुर्वाणं कालवृको हन्ति पुरुषाजम् ।।५३।।

– मेरा खाना, मेरा कपड़ा, मेरी पत्नी, मेरे मित्र – इस प्रकार 'मे'-'मे' (मेरा-मेरा) कहते रहनेवाले मनुष्य-रूपी बकरी को काल-रूपी भेड़िया खा जाता है।

अपहृत्य परस्यार्थान् यः परेभ्यः प्रयच्छति ।
स दाता नरकं याति यस्यार्थस्तस्य तत्फलम् ।।५४।।

– जो व्यक्ति दूसरे का धन हरकर, अन्याय से धन कमाकर दूसरों को दान करता है, वह दाता नरक में जाता है, क्योंकि जैसी कमाई होती है, उसका वैसा ही फल भी होता है।

अद्भिर्गात्राणि शुध्यन्ति मनः सत्येन शुध्यति ।
विद्यातपोभ्यां भूतात्मा बुद्धिर्ज्ञानेन शुध्यति ।।५५।।

– जल से शरीर की शुद्धि, सत्य से मन की शुद्धि, विद्या तथा तप से जीवात्मा की शुद्धि और ज्ञान से बुद्धि की शुद्धि होती है। (मनुस्मृति, ५/१०९)

अर्थनाशं मनस्तापं गृहे दुश्चरितानि च ।
वञ्चनं चापमानं च मतिमान्न प्रकाशयेत् ।।५६।।

– धन का नाश, मन का दुख, घर के दोष, ठगे जाना तथा अपमानित होना – बुद्धिमान व्यक्ति इन्हें अन्य से न कहे।

अकिंचनस्य दान्तस्य शान्तस्य समचेतसः ।
सदा-सन्तुष्ट-मनसः सर्वाः सुखमया दिशः ।।५७।।

– जो संचय नहीं करता, जो मन तथा इन्द्रियों को शान्त रखता है, जो सबके प्रति समभाव रखता है और जिसका मन सर्वदा सन्तुष्ट रहता है, उसके लिए सभी दिशाएँ अर्थात् सारा जगत् ही सुखमय है।

❖ (क्रमशः) ❖

रामकृष्ण-वन्दना

– १ –

(आसावरी या भैरवी–कहरवा)

बालसूर्य की आभा लेकर, सुमनों से मुस्कान,
चन्द्रादेवी की गोदी में, प्रगट हुए भगवान ।।

पंचभूतमय निरमल काया,
लीला करते संग ले माया,
कृपादृष्टि ना होवे जब तक,
कौन सके पहचान ।। चन्द्रा. ।।

पद-कमलों के मधु लोलुप हो,
मँडराते नित भक्त भ्रमर हो,
उनकी महिमा गुंजन करते,
और सुधारस पान ।। चन्द्रा. ।।

करते सारा जग आलोकित,
निरत सदा आश्रितजन के हित,
अभय और वर दे 'विदेह' नित,
करते हैं कल्याण ।। चन्द्रा. ।।

– २ –

(दरबारी-कान्हरा–कहरवा)

ठाकुर, तुम हो प्राणाधार,
भवसागर के तारणहार ।
हो आसीन हृदय शतदल पर,
बन जाओ जीवन के सार ।।

सम्मुख प्रज्ञा-दीप जलाऊँ,
प्राण-पुष्प से तुम्हें सजाऊँ,
कण्ठ तुम्हारे पहनाऊँगा,
मृदु भावों का शोभन हार ।।

जीवन-धन सर्वस्व तुम्हीं हो,
तुमसे विचलित चित न कभी हो,
शरणागत हूँ तव चरणों का,
तन-मन-जन, 'विदेह' सब वार ।।

श्रीरामकृष्ण के चरणों में (५)

स्वामी विवेकानन्द

(स्वामीजी ने अपनी आत्मकथा नहीं लिखी, तथापि उनके स्वयं के पत्रों तथा व्याख्यानों और उनके गुरुभाइयों के संस्मरणों में यत्र-तत्र उनके अपने जीवन-विषयक बातें आ गयी हैं। उनकी ऐसी ही उक्तियों का एक संकलन कोलकाता के अद्वैताश्रम द्वारा 'Swami Vivekananda on Himself' शीर्षक के साथ प्रकाशित हुआ है। उसी के आधार पर बँगला के सुप्रसिद्ध साहित्यकार शंकर ने 'आमि विवेकानन्द बलछि' शीर्षक के साथ एक अन्य ग्रन्थ भी प्रकाशित कराया है। हम उपरोक्त दोनों ग्रन्थों तथा कुछ अन्य सामग्री के संयोजन के साथ यह संकलन क्रमशः प्रकाशित कर रहे हैं। इसके द्वारा स्वामीजी के अपने ही शब्दों में उनके जीवन तथा ध्येय का एक प्रेरक विवरण प्राप्त होगा। – सं.)

(गतांक से आगे)

आजकल मूर्ति-पूजा को गलत बताने की प्रथा-सी चल पड़ी है; और सब लोग बिना किसी आपत्ति के उसमें विश्वास भी करने लग गये हैं। मैंने भी एक समय ऐसा ही सोचा था और उसके दण्डस्वरूप मुझे ऐसे व्यक्ति के चरणों में बैठकर शिक्षा ग्रहण करनी पड़ी, जिन्होंने सब कुछ मूर्तिपूजा के ही द्वारा प्राप्त किया था, मेरा अभिप्राय श्री रामकृष्ण परमहंस से है। यदि मूर्तिपूजा के द्वारा श्रीरामकृष्ण जैसे व्यक्ति उत्पन्न हो सकते हैं, तब तुम क्या पसन्द करोगे – सुधारकों का धर्म या मूर्तिपूजा? ... यदि मूर्तिपूजा के द्वारा ऐसे श्रीरामकृष्ण परमहंस उत्पन्न हो सकते हों, तो हजारों और मूर्तियों की पूजा करो। प्रभु तुम्हें सिद्धि प्रदान करें![४७]

आजकल प्रचलित इस मूर्तिपूजा में नाना प्रकार के कुत्सित भावों के प्रवेश कर लेने पर भी मैं उसकी निन्दा नहीं कर सकता। यदि मैं उसी कट्टर मूर्तिपूजक ब्राह्मण की पदधूलि से पुनीत न बनता, तो आज कहाँ होता?[४८]

जब मेरे गुरुदेव श्रीरामकृष्ण बीमार पड़े, तो एक विद्वान् ने सुझाया कि वे रोग से मुक्ति पाने के लिए अपनी महान् मानसिक शक्ति का उपयोग करें; उसने कहा कि यदि गुरुदेव अपने मन को अपने शरीर के रोगी भाग पर केन्द्रित करें, तो वह ठीक हो जायेगा। श्रीरामकृष्ण ने उत्तर दिया, "क्या कहा! जो मन मैंने ईश्वर को दे दिया है, उसे इस क्षुद्र शरीर के लिए नीचे उतारूँ?" उन्होंने शरीर और बीमारी के विषय में सोचने से मना कर दिया। उनका मन निरन्तर ईश्वर का अनुभव करता था; वह पूर्णरूपेण उसके प्रति अर्पित था। वे उसका किसी दूसरे कार्य के लिए उपयोग करने को राजी नहीं थे।[४९]

विश्राम करने का अवकाश कहाँ, भाई? श्रीरामकृष्ण के देहत्याग के दो-तीन दिन पहले, जिसे वे 'काली-काली' कह कर पुकारा करते थे, वही इस शरीर में प्रविष्ट हो गयी। वही मुझे इधर-उधर काम करते हुए घुमा रही है – स्थिर होकर बैठने नहीं देती, अपने सुख की ओर देखने नहीं देती। (*प्रश्न – क्या आप रूपक के अर्थ में ऐसा कह रहे हैं?*) नहीं, श्रीरामकृष्ण के देहत्याग के तीन-चार दिन पहले, उन्होंने मुझे एक दिन अकेले में अपने पास बुलाया और सामने बिठाकर मेरी ओर एक दृष्टि से एकटक देखते हुए समाधिमग्न हो गये। उस समय मैं अनुभव करने लगा कि उनके शरीर से एक सूक्ष्म तेज बिजली के कम्पन की तरह आकर मेरे शरीर में प्रविष्ट हो रहा है। धीरे-धीरे मैं भी बाह्य ज्ञान खोकर निश्चल हो गया। ऐसे भाव में कितनी देर तक रहा, मुझे कुछ भी याद नहीं। जब बाहर की चेतना हुई तो देखा – श्रीरामकृष्ण रो रहे हैं। पूछने पर उन्होंने स्नेहपूर्वक कहा, "आज तुझे सब कुछ देकर मैं फकीर बन गया। तू इस शक्ति के द्वारा संसार का बहुत कल्याण करके लौट जायेगा।" मुझे लगता है कि वह शक्ति ही मुझे इस काम से उस काम में घुमाती रहती है। मेरा यह शरीर बैठे रहने के लिए बना ही नहीं।[५०]

(*प्रश्न – महाराज, श्रीरामकृष्ण पूर्ण ब्रह्म भगवान थे, क्या यह बात उन्होंने कभी अपने मुँह से कही थी?*) कितनी ही बार कही थी। हम सब लोगों से कही थी। जब वे काशीपुर के बाग में थे और उनका शरीर बिल्कुल छूटने ही वाला था, तब मैंने उनकी शय्या के निकट बैठकर एक दिन मन में सोचा कि यदि वे अब कह सकें कि मैं भगवान हूँ, तभी मुझे विश्वास होगा कि वे सचमुच भगवान हैं। चोला छूटने में दो दिन बाकी थे। यह बात सोचते ही श्रीगुरुदेव ने सहसा मेरी ओर देखकर कहा, "जो राम थे, जो कृष्ण थे, वे ही अब इस शरीर में रामकृष्ण हैं; केवल तेरे वेदान्त के मत से नहीं।" मैं तो सुनकर भौंचक्का हो गया। प्रभु के श्रीमुख से बारम्बार सुनने पर भी हमें ही अभी तक पूर्ण विश्वास नहीं हुआ – सन्देह और निराशा में मन कभी-कभी विचलित हो जाता है – तो औरों की बात ही क्या? अपने ही समान देहधारी एक मनुष्य को ईश्वर कहना और उस पर विश्वास रखना बड़ा ही कठिन है। सिद्ध पुरुष या ब्रह्मज्ञ तक अनुमान करना सम्भव है। उनको चाहे जो कुछ कहो, चाहे जो कुछ समझो, महापुरुष मानो या ब्रह्मज्ञ – इसमें क्या धरा है? परन्तु श्री गुरुदेव जैसे पुरुषोत्तम ने इससे

पहले जगत् में और कभी जन्म नहीं लिया। संसार के घोर अन्धकार में अब यही महापुरुष ज्योति-स्तम्भ-स्वरूप हैं। इन्हीं की ज्योति से लोग संसार-समुद्र के पार चले जायेंगे।[५१]

अपने जीवन-काल में उन्होंने मेरी कोई भी प्रार्थना नहीं ठुकरायी, मेरे लाखों अपराध क्षमा किये। मेरे माता-पिता में भी मेरे लिए इतना प्रेम न था। इसमें कोई कविजन-सुलभ अतिशयोक्ति नहीं है। यह एक नितान्त सत्य है, जिसे उनका हर शिष्य जानता है। बड़े-बड़े संकट तथा प्रलोभन के अवसरों पर मैंने करुणा के साथ रोकर प्रार्थना की, "प्रभो, रक्षा कर" और किसी ने भी उत्तर नहीं दिया, किन्तु इस अद्भुत महापुरुष ने – अथवा अवतार या जो कुछ समझिए, उसने – अपने अन्तर्यामित्व गुण से मेरी सारी वेदनाओं को जानकर, स्वयं आग्रहपूर्वक बुलाकर उन सबका निराकरण किया। ... इस संसार में मैंने एकमात्र उन्हीं को अहेतुक-दयासिन्धु पाया है।[५२]

प्रभु की कृपा का परिचय इस जीवन में बहुत पाया। वे ही तो पीछे खड़े होकर इन सब कार्यों को करा रहे हैं। जब भूख से कातर होकर वृक्ष के नीचे पड़ा रहता था, जब कौपीन बाँधने को वस्त्र तक न था, जब कौड़ीहीन होकर भी पृथ्वी का भ्रमण करने को कृतसंकल्प था, तब भी सदैव श्रीगुरुदेव की कृपा से मुझे सहायता मिली। फिर जब इसी विवेकानन्द के दर्शन करने के निमित्त शिकागो के रास्तों पर भीड़ में धक्कम-धक्का हुआ था; जिस सम्मान का शतांश भी प्राप्त करने पर साधारण मनुष्य उन्मत्त हो जाते हैं, श्रीगुरुदेव की कृपा से उस सम्मान को भी मैं सहज ही पचा गया। प्रभु की इच्छा से सर्वत्र विजय हुई।[५३]

(श्रीरामकृष्ण) बाहर से भक्त दिखते थे, परन्तु भीतर ज्ञान से परिपूर्ण थे; और मैं बाहर से ज्ञानी दिखता हूँ, परन्तु मेरा हृदय भक्ति से परिपूर्ण है।[५४]

तुम लोगों ने मेरे हृदय के एक दूसरे तार – सर्वाधिक कोमल तार को स्पर्श किया है – वह है मेरे गुरुदेव, मेरे आचार्य, मेरे आदर्श, मेरे इष्ट, मेरे प्राणों के देवता श्रीरामकृष्ण परमहंस का उल्लेख! यदि मनसा-वाचा-कर्मणा मैंने कोई सत्कार्य किया हो, यदि मेरे मुँह से कोई ऐसी बात निकली हो, जिससे संसार के किसी भी व्यक्ति का कुछ उपकार हुआ हो, तो उसमें मेरा कुछ भी गौरव नहीं, वह उनका है। परन्तु यदि मेरी जिह्वा ने कभी अभिशाप की वर्षा की हो, यदि मुझसे कभी किसी के प्रति घृणा का भाव निकला हो, तो वे मेरे हैं, उनके नहीं। जो कुछ दुर्बल है, वह सब मेरा है; परन्तु जो कुछ भी जीवनप्रद है, बलप्रद है, पवित्र है, वह सब उन्हीं की शक्ति का खेल है, उन्हीं की वाणी है – वे स्वयं हैं।[५५]

उनकी उपमा वे ही हैं। उनकी तुलना का क्या कोई है?.. अपनी बात और क्या कहूँगा? देख तो रहे हो – मैं उनके दैत्य-दानवों में से कोई होऊँगा। उनके सामने ही कभी-कभी उन्हें बुरा-भला कह देता था। सुनकर वे हँस देते थे।[५६]

सच कहता हूँ, मैंने उन्हें बहुत कम ही समझा है। मुझे वे इतने बड़े लगते हैं कि उनके बारे में कुछ भी कहने में मुझे भय होता है कि कहीं सत्य की च्युति न हो जाय; कहीं मैं अपनी इस अल्प शक्ति के अनुसार उन्हें बड़ा करने के प्रयत्न में उनका चित्र अपने ढाँचे में खींचकर उन्हें छोटा न बना डालूँ।[५७]

उनकी बात ही अलग है। उनके साथ क्या मनुष्य की तुलना हो सकती है? उन्होंने सभी मतों की साधना करके देखा है कि सभी एक तत्त्व में पहुँचा देते हैं। उन्होंने जो कुछ किया है, वह क्या तू या मैं कर सकते हैं? वे कौन थे और कितने बड़े थे, यह अभी तक हममें से कोई भी नहीं समझ सका। इसीलिए मैं उनकी बात जहाँ-तहाँ नहीं बोलता। वे क्या थे – यह वे ही जानते थे। केवल उनकी देह ही मनुष्य की थी, आचरण में तो उन्हें देवत्व प्राप्त था।[५८]

साधारण भक्तों ने गुरुदेव को जितना समझा है, वस्तुतः हमारे प्रभु उतने ही नहीं हैं। वे तो अनन्त भावमय हैं। भले ही ब्रह्मज्ञान की मर्यादा हो, पर प्रभु के अगम्य भावों की कोई मर्यादा नहीं। उनके कृपा-कटाक्ष से एक क्यों, लाखों विवेकानन्द अभी उत्पन्न हो सकते हैं। परन्तु ऐसा न करके वे अपनी ही इच्छा से मेरे द्वारा अर्थात् मुझे यंत्रवत बनाकर, यहाँ सब कार्य करा रहे हैं। तुम्हीं कहो, इसमें मेरा क्या हाथ है?[५९]

परन्तु दुनिया भर में घूमकर देखा, उनकी परिधि के बाहर अन्यत्र सभी जगह मन में कुछ और कार्य में कुछ और है। जो उनके हैं, उन पर मेरा पूर्ण प्रेम और पूर्ण विश्वास है। क्या करूँ? मुझे भले ही एकांगी कह लेना, पर यही मेरी असल बात है। जिस किसी ने श्रीरामकृष्ण को आत्मसमर्पण किया है, उसके पैरों में यदि काँटा भी चुभता है, तो वह मेरे हाड़ों को बेधता है; यों तो मैं सभी को प्यार करता हूँ। मेरी तरह असाम्प्रदायिक संसार में बिरला ही कोई होगा, परन्तु उतना मेरा हठ है, माफ़ करना। उनकी दुहाई नहीं, तो अन्य किसकी दुहाई दूँ? अगले जन्म में कोई बड़ा गुरु देख लिया जायेगा, इस जन्म में तो इस शरीर को सदा-सर्वदा के लिए उन्हीं अनपढ़ ब्राह्मण ने खरीद लिया है।[६०]

सन्दर्भ-सूची –

४७. विवेकानन्द साहित्य, खण्ड ५, पृ. ११३; **४८.** वही, खण्ड ५, पृ. ३४७; **४९.** वही, खण्ड ३, पृ. १९४; **५०.** वही, खण्ड ६, पृ. १७५; **५१.** वही, खण्ड ६, पृ. ४९-५०; **५२.** वही, खण्ड १, पृ. ३६६; **५३.** वही, खण्ड ६, पृ. ४७; **५४.** The Life of Swami Vivekananda, Kolkata, 1989, खण्ड १, पृ. १४५; **५५.** वही, खण्ड ५, पृ. २०६; **५६.** वही, खण्ड ६, पृ. २३२; **५७.** वही, खण्ड ६, पृ. १३९; **५८.** वही, खण्ड ६, पृ. १३८; **५९.** वही, खण्ड ६, पृ. ४७-८; **६०.** वही, खण्ड ४, पृ. ३५३

साधना, शरणागति और कृपा (३/२)

पं. रामकिंकर उपाध्याय

(निम्नलिखित प्रवचन पण्डितजी द्वारा रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम, रायपुर के तत्त्वावधान में ३१ जनवरी से ५ फरवरी १९९४ ई. तक प्रदत्त हुआ था। 'विवेक-ज्योति' में प्रकाशनार्थ इसे टेप से लिपिबद्ध करने का श्रमसाध्य कार्य किया है श्रीराम संगीत महाविद्यालय, रायपुर के सेवानिवृत्त प्राध्यापक श्री राजेन्द्र तिवारी ने। – सं.)

संसार की हर चीज का सदुपयोग भी हो सकता है और दुरुपयोग भी। शरीर की कुछ अवस्थाएँ – विशेषकर वृद्धावस्था व्यक्ति को आतंकित करती है और व्यक्ति यदि भोग-वासना में अत्यधिक आसक्त है, तब तो यह उसे और भी अधिक आतंकित करती है। वह यह सोच नहीं पाता कि इस वृद्धावस्था का भी कुछ सदुपयोग हो सकता है।

महाराज मनु के चरित्र में हम देखते हैं कि उनकी वृद्धावस्था उनके अन्त:करण को विचार की दिशा में प्रेरित करती है। और यही मनु बाद में महाराज दशरथ बनते हैं।

विचार की दिशा में प्रेरित करने का अर्थ यह है कि मान लीजिये एक दुकान है। उसमें दिन भर ग्राहक आते-जाते रहें, बिक्री होती रहे, परन्तु उसका हिसाब तो तभी होगा न, जब व्यक्ति दुकान बन्द करेगा। दिन भर की दुकान की बिक्री में कितना लाभ और कितना घाटा हुआ – इसका पता तो अन्त में तब चलता है, जब हिसाब किया जाता है। तो वृद्धावस्था का अर्थ है कि दुकान बन्द करके जरा खाता मिला लें कि अभी तक जितना कर्म का व्यापार चलता रहा है, इसमें क्या लाभ हुआ, क्या घाटा हुआ – इतने दिनों तक जो कर्म किया गया, वह केवल कर्म ही होते रहे या इन कर्मों से मेरे जीवन में मुझे कोई परिणाम भी प्राप्त हुआ।

तात्पर्य यह कि वृद्धावस्था में यदि शरीर की क्षमता घट जाती है, तो व्यक्ति यदि सजग हो तो उसकी विचार की क्षमता बढ़ जाती है। व्यक्ति ने जीवन के अनुभवों को देखा है, सुना है। कल हमारे पास कुछ पत्रकार आए थे और उन्होंने कुछ प्रश्न भी किए – "कथा में बूढ़े अधिक आते हैं या जवान? जवान कम क्यों आते हैं?" मैंने कहा – भाई, बूढ़ों के लिए भी तो कुछ रहने दो। रामायण में भी लिखा है – कागभुशुण्डिजी जब कथा सुनाते थे, तो सब पक्षी आते थे। परन्तु एक वाक्य गोस्वामीजी ने बड़ा विचित्र लिख दिया – सब बूढ़े-बूढ़े पक्षी भुशुण्डिजी की कथा में आते थे –

बृद्ध बृद्ध बिहंग तहँ आए। ७/६३/४

पत्रकार होते, तो पूछते – भुशुण्डिजी, बूढ़े ही क्यों? क्यों न युवकों में भी संस्कार डाला जाय, बच्चों में संस्कार डाला जाय? बच्चों तथा युवकों का भी बड़ा महत्त्व है, परन्तु क्या ऐसा मान लिया जाय कि वृद्धावस्था में व्यक्ति जो कुछ करता है, उसका कोई अर्थ ही नहीं है? मैंने कहा – वह परिपक्व है, बहुत-कुछ अनुभव कर चुका है। उसमें विचार-शक्ति का उदय हुआ है। अनुभव-आधारित विचार-शक्ति के द्वारा वह अपने लिए भी सोच सकता है और दूसरों के लिये भी अपना अनुभव बता सकता है। इसीलिये वृद्धों के पास बैठने की महिमा बताई गई है। उस व्यक्ति के पुराने अनुभवों से सीखने की चेष्टा करें, ग्रहण करने की चेष्टा करें।

प्रतापभानु जब रावण बन गया, तब भी उसकी अमरता की आकांक्षा बड़ी प्रबल थी; और बुढ़ापे को तो वह इतना उपेक्ष्य मानता था कि जाम्बवानजी को सामने देखा तो कह दिया – बूढ़े, अब तू लड़ने आया है? उसे लगता था कि बूढ़े शरीर में अब क्या शक्ति होगी? वह अब क्या कर सकता है? फिर माल्यवान तो उसके इतने बड़े पूज्य थे, सम्बन्धी थे। उनको भी कह दिया – तुमने जो बातें कही कि सीता को लौटा दो; तुम बूढ़े न होते, तो मैं तुम्हें मार डालता। अब हम तुम्हें क्या मारें ! बूढ़े हो, कुछ दिन में तो स्वयं ही मरने वाले हो। वृद्ध व्यक्ति के प्रति उसकी ऐसी ही भावना थी।

इधर भगवान राम की सभा में तो वृद्ध जाम्बवान का बड़ा आदर था। परन्तु कोई वृद्ध केवल आयु से ही वृद्ध नहीं हो जाता। यह जरूरी नहीं कि हर वृद्ध ने अनुभव तथा विचार किया हो। पर विचारवान वृद्धों की बातों को ध्यान से सुनना बड़े महत्त्व का है। वृद्धावस्था एक विचार-मन्थन है। व्यक्ति जीवन के कर्म सम्पन्न करने के बाद विचार कर रहा है।

मनु ने भी वृद्धावस्था का सही सदुपयोग किया। उन्होंने सोचा – मैंने इतने दिनों तक धर्म और कर्तव्य का पालन किया। परन्तु कर्म का जो सच्चा परिणाम मेरे जीवन में होना चाहिये था, क्या वह हुआ? इन प्रसंगों में मानव-जीवन तथा उसकी समस्याओं के बड़े मधुर संकेत मिलते हैं।

जब हम धर्म या कर्तव्य का पालन करते हैं, तो उसका अन्तिम लाभ क्या है? दिन भर दुकानदारी के बाद अन्त में मुनाफा क्या हुआ? मनु को यह लगा कि धर्म के पालन का जो परिणाम होना चाहिये था, वह मेरे जीवन में नहीं हुआ। धर्म के पालन का परिणाम दो प्रकार से बताए गये हैं। एक

तो यह कि धर्म का पालन करने से व्यक्ति समाज में सम्मान पाता है कि बड़े धार्मिक हैं, बड़े दानी हैं, बड़े परोपकार के कार्य करते हैं, यह भी अच्छी वृत्ति है। व्यक्ति यदि प्रशंसा चाहता है, धार्मिक कहलाना चाहता है और उसी के लिये अच्छे कार्य करे, तो वह भी एक उद्देश्य होता है।

या फिर व्यक्ति ने सुना है कि सत्कर्म करनेवाला मरणोपरान्त स्वर्ग पाता है, सद्‌गति पाता है, तो मरने के बाद मुझे स्वर्ग मिलेगा। इस कामना से भी धर्म का पालन किया जाता है। गुरु वशिष्ठ ने भरतजी से जब राज्य लेने के लिये कहा था, तो यही कहा – तुम्हें शास्त्र के वचन को प्रमाण मानना चाहिए। शास्त्र कहते हैं कि जो व्यक्ति उचित-अनुचित का विचार न कर पिता की आज्ञा का पालन करता है, ऐसे व्यक्ति को सुख भी प्राप्त होता है, यश भी मिलता है कि इतना बड़ा आज्ञाकारी है; और अन्त में वह स्वर्ग जाता है –

अनुचित उचित बिचारु तजि जे पालहिं पितु बैन।
ते भाजन सुख सुजस के बसहिं अमरपुर ऐन।। २/१७४

भरतजी ने गुरु वशिष्ठ के इस उपदेश को स्वीकार नहीं किया। न स्वीकार करने के पीछे उनका एक बड़ा विलक्षण चिन्तन है। वह चिन्तन बहुत कम लोगों के जीवन में होता है। दोहे में तो शब्दश: कहा गया है कि शास्त्रों में पिता के आज्ञा-पालन के महत्त्व का वर्णन किया गया है। यह भी कहा गया है कि उचित-अनुचित का विचार किए बिना ही पिता की आज्ञा का पालन करना चाहिए। परन्तु उसके बाद जो वाक्य आया है, उसे भी समझना चाहिये। ऐसा कहने का उद्देश्य यह है कि व्यक्ति को यदि यह अधिकार दे दिया जाय कि पिता की आज्ञा उचित हो, तभी मानो, तो ऐसे-ऐसे योग्य पुत्र मिलेंगे, जिनको पिता की कोई भी आज्ञा उचित नहीं लगेगी। इसी एक वाक्य को आधार बनाकर यदि कोई कहे कि हम तो विचारपूर्वक ही मानेंगे; और विचार के द्वारा अन्ततोगत्वा आप यही निष्कर्ष निकालें कि पिता जो भी आज्ञा देते हैं, वे सब अन्यायपूर्ण तथा अनुचित हैं और विवेक के अनुकूल नहीं है, इस तरह पुत्र का अभिमान अगर निर्णायक बनकर उचित-अनुचित का निर्णय करेगा तो अनर्थ होगा। इसीलिए ऐसा कहा गया है। इसका उद्देश्य उचित-अनुचित का विचार छोड़ देना नहीं है।

इसमें कहनेवाले का एक दूसरा भी उद्देश्य है। जब पुत्र से कहा गया कि पिता की आज्ञा को उचित-अनुचित का विचार किए बिना मान लो; तो दूसरी ओर शास्त्र पिता से भी कहता है कि पुत्र को अनुचित आज्ञा न दो। दोनों के बीच सामंजस्य है। यदि पुत्र को उचित-अनुचित का विचार नहीं करना है, तो पिता को और भी सजग होना है कि हम कोई ऐसी आज्ञा न दें, जो अनुचित हो।

यहाँ तीसरा बड़े महत्त्व का सूत्र आता है। भरतजी का अभिप्राय है – गुरुदेव, इन वस्तुओं के द्वारा जो कुछ मिलता है, जैसा कि शास्त्र कहते हैं, तो क्या सचमुच यही जीवन की अन्तिम उपलब्धि है कि संसार के पिता प्रसन्न हो गये, उन्होंने सम्पत्ति दे दी और उससे सुख प्राप्त हो गया। यही क्या सबसे बड़ी उपलब्धि कि पिता ने देखा कि बड़ा आज्ञाकारी बेटा है, इसे अपनी सम्पत्ति दे दें, या लोग उसे बड़ी प्रशंसा की दृष्टि से देखने लगे कि बड़ा आज्ञाकारी है। आप यदि कहते हैं कि ऐसा व्यक्ति मरने के बाद स्वर्ग जाता है, तो क्या आप स्वर्ग को ही सर्वश्रेष्ठ उपलब्धि मानते हैं? कीर्ति, सम्पत्ति, सुख और स्वर्ग – क्या यही आपके धर्म का लक्ष्य हो सकता है।

एक बहुत बड़ा प्रश्न है। कुछ लोगों के लिये ये बड़ी महत्त्व की वस्तु होती है और धर्म उनको उस दिशा में प्रेरित भी करता है। परन्तु बाद में क्या होता है? उसके जीवन में समस्याएँ आती हैं। जब व्यक्ति को कीर्ति मिलती है, तो उसकी तुलना में और भी बड़े-बड़े कीर्तिवान हैं, उनसे ईर्ष्या होगी। अनेक लोग आपसे भी अधिक धार्मिक होंगे, लोग उन्हें आपसे भी बड़े धार्मिक कहते हैं। स्वर्ग की प्राप्ति हो जायगी। तो ऐसा भी वर्णन आता है कि स्वर्ग में ईर्ष्या का रोग अति प्रबल है, क्योंकि देवता अपने बगल में देखेगा, तो दूसरे का सिंहासन और ऊँचा दिखेगा। वहाँ तो जो जितना पुण्य करके गया है, उसको उतना ही अधिक सुख-सुविधा तथा वस्तुएँ मिलेंगी। जो व्यक्ति इन्हीं वस्तुओं को सबसे बड़ा मानता है, वह इन्हें पाने के लिए धर्म का पालन करे – यह अपने स्थान पर ठीक है। उसकी निन्दा नहीं की जानी चाहिए। पर धर्म का पालन करते हुए यदि उसमें विचार का उदय हो, तो वह उससे उच्च अवस्था का द्योतक है।

भगवान राम ने जब अयोध्यावासियों को उपदेश दिया, तो विचार की प्रेरणा देते हुए कहा – मित्रो, आपको जो शरीर मिला है, उसके साथ जो इन्द्रियाँ मिली हैं, उनके द्वारा विषयों का सेवन किया जाता है। उनकी बाध्यता है – नेत्र देखेंगे, कान सुनेंगे, मुख में कोई वस्तु जाने पर जिह्वा में स्वाद की अनुभूति होगी। परन्तु भगवान कहते हैं कि क्या सचमुच इन इन्द्रियों का उद्देश्य केवल इतना ही है?

उन्होंने एक बड़ा महत्त्वपूर्ण प्रश्न किया। आप देखते हैं कि इन वस्तुओं के द्वारा सुख भी मिलता है और बाद में दुख तथा रोग भी मिलता है। बम्बई के एक डॉक्टर की बात मैं नहीं भूल पाता। दो-तीन वर्ष पूर्व मैं अस्वस्थ था, दवा चल रही थी, डॉक्टर से पूछा कि भोजन में क्या लेना है, क्या नहीं लेना है? वे चाहते तो बता देते कि यह वस्तु लेना है, यह नहीं लेना है। पर वे बड़े विनोदी स्वभाव के थे। बोले – बस एक ही सूत्र है – जो अच्छा लगे, वह मत खाइए।

उन्होंने बड़ी अद्‌भुत बात कह दी – जो अच्छा न लगे, वही खाइए। एक छोटे से वाक्य में कितनी बड़ी बात कह दी। व्यक्ति को स्वादिष्ट वस्तु ही तो अच्छी लगेगी। जब अच्छी लगेगी तो कुछ अधिक ही खा ली जायेगी और तब उससे रोग भी उत्पन्न होगा। तो व्यक्ति यदि विचार करके देखे कि इन्द्रियों का उद्देश्य केवल इतना ही नहीं है। ठीक है, उनकी भी आवश्यकता है। यह नहीं कि व्यक्ति इन्द्रियों से कोई रस ले ही नहीं, पर यह न भूल जाय कि इन्द्रियाँ हमें कहाँ तक ले जायेंगी? इसलिए भगवान राम ने अयोध्या-वासियों से कहा कि शरीर पाकर जो केवल विषय पाने की ही चेष्टा कर रहा है, वह क्या कर रहा है? – अमृत के बदले में विष ले रहा है –

नर तनु पाइ बिषयँ मन देहीं।
पलटि सुधा ते सठ बिष लेहीं ।। ७/४३/२

प्रभु ने कैसी सुन्दर बात कही। बाजार में दस रुपये में अमृत बिकता हो और पाँच रुपये में विष बिकता हो; और यदि कोई विष खरीद लाये, तो वह कितना अभागा है ! कोई ऐसा मूर्ख हो सकता है कि जिससे पूछा जाय कि अमृत छोड़कर विष क्यों ले आए? तो कहा – सस्ता यही था। तो सस्ता हो, पर जो मृत्यु की दिशा में ले जाय, ऐसे सस्तेपन का क्या लाभ? भगवान का अभिप्राय है कि शरीर में तुम्हें जो इन्द्रियाँ प्राप्त हैं, उनके द्वारा तुम चाहो, तो अमृत भी पा सकते हो। जब हम भगवान के रूप का दर्शन करते हैं, तो नेत्र को विषय प्राप्त होता है। भगवान की कथा सुनते हैं, तो कान कथा-रस प्राप्त करते हैं। जब हम उनके गुणों का गायन करते हैं, या उनका प्रसाद ग्रहण करते हैं, तब जिह्वा में रस के साथ-साथ प्रसाद में प्रसाद बुद्धि का भी उदय होना चाहिये। भगवान का अभिप्राय यह है कि तुम्हें मानव-शरीर प्राप्त हुआ है, तो इस शरीर का लक्ष्य केवल विषय नहीं हो सकता। अमृत छोड़कर तुम केवल विषय मत खरीदो।

अयोध्यावासी कह सकते हैं – महाराज, तो फिर इस शरीर को पाकर क्या व्यक्ति को सत्कर्म करते हुए स्वर्ग में जाना चाहिए? कई लोग व्रत, उपवास आदि करते हुए या माघ में नहाते हुए यही कल्पना करते हैं कि जब हम मरेंगे, तो मरने के बाद हमें स्वर्ग मिलेगा। कबीरदासजी से किसी ने पूछा – महाराज, सुनते हैं कि अच्छा कर्म करनेवालों को स्वर्ग मिलता है, आपका क्या ख्याल है? वे बोले – क्या कहें? इधर से तो सब जा रहे हैं, परन्तु यदि उधर से कोई आता, तो पूछते कि वहाँ का हाल-चाल बताओ –

इत ते सबहीं जात हैं भार लदाय लदाय।
उत ते कोउ आवत नहीं जासों पूछूँ धाय ।।

कोई कल्पना करे कि स्वर्ग में यह मिलेगा, यह मिलेगा। परन्तु क्या कोई दावे के साथ कह सकता है कि वहाँ ये-ये वस्तुएँ मिलने वाली हैं। सबकी अपनी-अपनी भाषा होती है। कोई अक्खड़ भाषा में बोलते हैं, कोई सौम्य भाषा में बोलते हैं। गोस्वामीजी मधुर शैली में बोलने के अभ्यस्त हैं। किसी ने उनसे पूछा – महाराज, क्या भक्ति करने से स्वर्ग मिलता है? गोस्वामीजी बोले – देखो, कौन नरक में जायगा, कौन स्वर्ग में जायगा, कोई नहीं जानता। उससे भी ऊँचे परलोक हैं, उसे भी कोई देखकर बताने वाला नहीं है –

को जानै को जैहै जमपुर,
को सुरपुर परधाम को।

वैसे तो हमारे यहाँ परम्परा यह है कि दिवंगत व्यक्ति को स्वर्गीय कहते हैं या उसके नाम के आगे स्वर्गीय लिखते हैं। परन्तु यह एक सम्मान देने की बात है। वे नरकीय हैं या स्वर्गीय – इसका विधान तो यमराज ही जानते होंगे।

पूछा गया – तो फिर आप भक्ति का उपदेश क्यों देते हैं। वे बोले – केवल इसलिए कि जो राम का सेवक है, उनका दास है, उसे इस जीवन में ही धन्यता का अनुभव होता है –

तुलसिहिं बहुत भलो लागत
जग जीवन रामगुलाम को ।। वि.प. १५५/५

हम सभी इसे प्रत्यक्ष अनुभव कर सकते हैं, हम मृत्यु के बाद की कोई बात नहीं करते।

भगवान बोले कि तुम स्वर्ग के लिये कोई सत्कर्म करते हो, तो भई इसमें कोई बुद्धिमत्ता नहीं है। ठीक है, शास्त्रों में लिखा है, तो हम मान लेते हैं कि स्वर्ग अवश्य मिलता होगा। परन्तु शास्त्रों ने यह छिपाया नहीं कि असीम स्वर्ग नहीं मिलेगा। सत्कर्म के अनुकूल ही मिलेगा और यह भी बता दिया कि जब तुम्हारे पुण्य समाप्त हो जाएँगे, तो तुम वहाँ से नीचे ढकेल दिए जाओगे –

क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति ।। गीता, ९/२१

तो आपको धोखे में नहीं रखा गया है। बता दिया गया है कि एक समय-सीमा के लिये ही स्वर्ग के सुख मिलेंगे। तो भगवान कहते हैं – मित्रो, व्यक्ति यदि मनुष्य-शरीर के द्वारा स्वर्ग भी प्राप्त कर ले, तो स्वर्ग भी वस्तुतः बहुत थोड़ा है –

स्वर्गउ स्वल्प अन्त दुखदाई ।। ७/४३/१

यह 'थोड़ा' शब्द बड़े महत्त्व का है। कहते हैं कि किसी ने भगवान शंकर की आराधना की। शंकरजी बड़े दानी हैं। आराधना के बाद भगवान शंकर प्रगट हुए और देखने लगे कि यह क्या माँगता है, परन्तु वह बोल ही नहीं रहा था। शंकरजी बोले – तुमने मुझे प्रसन्न करने के लिये साधना की, मैं सामने खड़ा हूँ, जो माँगना हो, माँग लो। तुम तो कुछ बोल ही नहीं रहे हो। वह थोड़ा स्पष्टभाषी था, बोला – आपका दर्शन तो हो गया, पर आपको देखकर सोचना पड़ रहा है कि आपको कुछ दूँ या कुछ माँगूँ ! शरीर पर वस्त्र

नहीं, साँप-बिच्छू लिपटे हुए हों, हाथ में भिक्षापात्र के रूप में नर-कपाल हो और उससे कोई कहे कि मुझे स्वर्ण-भवन दे दीजिए, तो ऐसा कहना तो बड़ी अभद्रता है। शंकरजी बोले – "ऐसी बात नहीं है, तुम मुझसे अवश्य माँगो। पर देखो, एक बात है, यदि तुम्हें थोड़ा माँगना हो, तो किसी अन्य देवता से माँगो और बहुत माँगना हो, तभी मुझसे माँगो।

कवितावली रामायण में गोस्वामीजी ने बड़ी सांकेतिक भाषा में नाम चुना, कहा – 'नागो' – नंगा घूमता है, परन्तु किसी माँगनेवाले को देखता है, तो कहता है – यहाँ कोई कमी नहीं है, इसलिये 'कम' मत माँगना –

नागो फिरै कहै मागनो देखि
'न खाँगो कछु', जनि माँगिये थोरो ।। उत्त. १५३

शायद उसने सोचा था कि एक लाख माँगेंगे, परन्तु जब कहा कि थोड़ा मत माँगना, तो चलो एक करोड़ या दस करोड़ ही माँग लें। परन्तु इस 'थोड़े' और 'बहुत' की व्याख्या भगवान राम ने की। 'थोड़ा' अर्थात् जो वस्तु कुछ समय बाद समाप्त हो जाय और वे बोले कि वस्तुत: स्वर्ग भी थोड़ा ही है। जब एक दिन वहाँ की वस्तुओं को छोड़ना ही पड़ेगा, व्यक्ति को नीचे उतरना पड़ेगा, तो ऐसी स्थिति में स्वर्ग का सुख अल्प ही है और छोड़ते समय दुखदायी है –

स्वर्गउ स्वल्प अन्त दुखदाई ।। ७/४३/१

मनुष्य शरीर का उद्देश्य – न विषय-सुख हो सकता है और न स्वर्ग-सुख। धर्म में यदि केवल क्रिया का ही पक्ष है, तो उससे कुछ 'थोड़ा' ही मिलेगा। परन्तु धर्म की परिणति विचार में होनी चाहिये, तो उससे 'असीम' की प्राप्ति होगी।

धर्म बहुधा क्रिया में ही दिखाई देता है। व्यक्ति क्रिया में रहते हुए यदि उसी में आसक्त होता जाय; हर क्षण उसे केवल क्रिया में ही अच्छाई, ऊँचाई, पवित्रता आदि दृष्टिगोचर होने लगे, तो कर्म करते-करते वह जड़ हो गया है। विचार करके देखिए – मनुष्य जितना कर्म कर सकता है, उसकी अपेक्षा यंत्र कितना अधिक कर लेता है। आज ऐसे यंत्रों का आविष्कार हो चुका है, जो हजारों व्यक्तियों द्वारा अनेक दिनों में किये जा सकने वाले कार्य को अकेले और कुछ ही क्षणों में कर देते हैं। दोनों में भेद यह है कि यंत्र क्रिया तो कर सकता है, पर विचार नहीं कर सकता। व्यक्ति के जीवन में यदि केवल क्रिया है, तो उसका जीवन केवल यंत्र के समान चल रहा है। यंत्र में विचार की शक्ति नहीं है और व्यक्ति में विचार की शक्ति है। धर्म का साधन सुख-समृद्धि, यश-कीर्ति तथा स्वर्ग की प्राप्ति के लिए भी किया जा सकता है, परन्तु अन्त में उसका परिणाम यह होना चाहिए कि व्यक्ति को भोग्य विषयों से वैराग्य हो जाय –

धर्म तें बिरति जोग तें ग्याना ।
ग्यान मोच्छप्रद बेद बखाना ।। ३/१६/१

वैराग्य होने का अभिप्राय है कि दिखाई देने लगे कि इस प्रकार से इन विषयों के सेवन से हमें जीवन में सुख कहाँ मिला? शान्ति कहाँ मिली? क्या यही जीवन का उद्देश्य है? जब ऐसे विचारों का उदय होने लगता है, तो जीवन में धर्म की अन्तिम परिणति विरति – वैराग्य के रूप में होती है। विरति के बाद योग, योग से ज्ञान और ज्ञान से मोक्ष – इस प्रकार यह साधना का क्रम बताया गया।

पुराणों में दोनों पद्धतियों का वर्णन है। वेदों में इन्द्र की इतनी स्तुति है, इतनी पूजा है कि वेद के अधिकांश मंत्र इन्द्र की स्तुति में ही मिलते हैं। लेकिन पुराणों में और रामायण में इन्द्र को इतना महत्त्व नहीं दिया गया। श्रीमद् भागवत में आप पढ़ते हैं कि वृजवासी प्रतिवर्ष इन्द्र की जो पूजा करते हैं, उसे भगवान कृष्ण ने रोक दिया। बोले – इन्द्र की पूजा मत करो। कई लोगों को लगता है कि वेदों और पुराणों की धारणाओं में भिन्नता है। वेद वहाँ इन्द्र को इतनी महिमा देते हैं और पुराणों में इन्द्र का इस प्रकार अनादर दीख पड़ता है। रामायण में तो इन्द्र के लिए कुछ और भी कठोर शब्द कह दिए गये। जिस समय नारदजी की तपस्या को देखकर इन्द्र को लगा कि ये मेरा पद पाने के लिये ही कर रहे हैं, तो गोस्वामीजी ने तो इन्द्र को जिन शब्दों में याद किया, वह तो वेदों की भाषा से इतनी उल्टी भाषा है। वे कहते हैं – जब इन्द्र ने नारदजी को तपस्या करते देखा, तो इन्द्र की क्या दशा हुई? बोले – जैसे कोई कुत्ता हड्डी को चूस रहा था और उधर से सिंह निकला, तो कुत्ते को डर लगा कि कहीं सिंह मेरी इस हड्डी को न छीन ले, अत: यहाँ से भाग निकलना चाहिए। बोले – ठीक यही दशा इन्द्र की है। वह स्वर्ग का हड्डी चूस रहा है। साथ ही 'दुष्ट' शब्द भी जोड़ दिया –

सूख हाड़ लै भाग सठ
स्वान निरखि मृगराज ।
छीनि लेइ जनि जान जड़
तिमि सुरपतिहि न लाज ।। १/१२५

लगता है कि इन्द्र की तुलना कुत्ते से कर देना – यह वेद से बिल्कुल विरुद्ध बात हुई। परन्तु ऐसी बात नहीं है, क्या आप कुत्तों के सौभाग्य को नहीं देखते हैं? वे कुत्ते भी तो सौभाग्यशाली हैं, जो मनुष्यों से अधिक सुख-सुविधा पा रहे हैं, परन्तु पाने के बाद भी क्या वे मनुष्य हो गये? उनको संयोग मिल गया, ऐसा स्वामी मिल गया, जो उसको खूब सुख दे रहा है, खूब खिला रहा है, न जाने कितना खर्च कर रहा है, परन्तु कुत्ता तो कुत्ता ही है। तो गोस्वामीजी इन्द्र के लिये इस शब्द का प्रयोग करते हैं, इसका उद्देश्य है कि एक सीमा तक तो लगता है कि इन्द्र का पद कितना उँचा है। पर इन्द्र की विषय-लालसा उसे पतन की ओर ले जाती है।

पुराण बताना चाहते हैं कि भले ही इन्द्र स्वर्ग का राजा

है। भले ही उनकी सभा में असंख्य अप्सराएँ नृत्य करती हैं। भले ही वह अमृत पीता है, सदा युवा रहता है। पर अहल्या के उपाख्यान में संकेत दिया गया कि इतने विषयों तथा अप्सराओं से घिरा रहनेवाले इन्द्र के मन में भी मृत्युलोक की अहल्या का सौन्दर्य देखकर उसे पाने की इच्छा हुई। और केवल इच्छा ही नहीं हुई, वह छली बनकर, कपटी बनकर गौतम का वेश बनाकर अहल्या को पाना चाहता है। पुराणों का उद्देश्य यह बताना है कि इन्द्र महत्त्वपूर्ण हो सकता है, परन्तु इतने भोग तथा वैभव के बाद भी उसकी विषय-लालसा उसको किस सीमा तक नीचे गिरा सकती है।

अत: हमारा चरम लक्ष्य इन्द्रत्व नहीं हो सकता। मानस में गौतम की कथा के द्वारा और पुराणों में दिलीप की कथा के द्वारा हमें यही संकेत मिलता है। महाराजा दिलीप ने शास्त्रों में सुना कि इन्द्र पद उसे प्राप्त होता है, जो सौ अश्वमेध यज्ञ कर लेता है। उन्होंने संकल्प किया कि मैं सौ अश्वमेध यज्ञ करूँगा। यज्ञ प्रारम्भ हुए और एक-एक करके निन्यानबे यज्ञ पूरे हो गये। सौंवे यज्ञ में अश्वमेध का घोड़ा सहसा कहीं चला गया, दिखाई नहीं दे रहा है। अश्वमेध यज्ञ का घोड़ा विश्व में चारों ओर घूमता था। अन्त में गुरु वशिष्ठ ने ध्यान करके बताया कि इन्द्र ने उस घोड़े का अपहरण कर लिया है और वह स्वर्ग में है। दिलीप के पुत्र रघु महान प्रतापी, महान तेजस्वी थे। उन्होंने निश्चय किया कि मैं स्वर्ग पर आक्रमण करके घोड़े को लाऊँगा और पिताजी का यज्ञ पूरा करूँगा। बड़े पितृभक्त थे।

परन्तु जब वे रथ पर बैठने लगे, तो पिता के मन में सत्संग का संस्कार जाग उठा। ऊँची बात इसलिए सुननी चाहिए कि भले ही हम उसे तत्काल जीवन में क्रियान्वित न कर सकें, परन्तु जो कुछ सुना हुआ है, कभी अवसर आने पर उसका संस्कार जगकर व्यक्ति को इतना ऊँचा बना सकता है कि जिसकी कोई सीमा नहीं। यही हुआ। उन्होंने शास्त्रों से सुना था – सौ अश्वमेध यज्ञ करने से इन्द्रपद प्राप्त होता है। वे सौवाँ यज्ञ पूरा भी करने जा रहे थे। परन्तु उन्होंने शास्त्रों तथा महात्माओं से यह भी सुना था कि धर्म का फल वैराग्य है – **धर्म तें बिरति जोग तें ग्याना**। धर्म के द्वारा व्यक्ति में भोग-लालसा नहीं, अपितु वैराग्य की वृत्ति का उदय होना चाहिए। अब सचमुच वही वृत्ति उदित हुई।

उन्होंने कहा – पुत्र रघु, मैंने अपने संकल्प का त्याग कर दिया। अब मैं अश्वमेध पूरा नहीं करूँगा। लोग चकित रह गये। कैसी आश्चर्य की बात? निन्यानवे यज्ञ पूरे हो गये। सौंवा भी पूरा हो सकता है। पुत्र इतना पराक्रमी है कि घोड़े को ला सकता है। पर दिलीप यज्ञ को पूरा नहीं करना चाहते। दिलीप का वैराग्य उनकी वाणी में मुखरित हुआ। उन्होंने कहा – मैंने देख लिया न! – क्या? बोले – सौ अश्वमेध यज्ञ करके इन्द्र बननेवाले की भी जब चोरी करने की आदत नहीं गई, तो मैं इन्द्र बनकर क्या करूँगा। यहाँ तो चोरों को मैं दण्ड देता रहता हूँ। कोई चोरी करे तो उसे मैं कारागार में डालू दूँ। स्वर्ग के सिंहासन पर, राजपद पर बैठा हुआ भी, केवल इसीलिये कि भविष्य में कोई इन्द्र न बनने पाए, मुझे चोर बनना पड़े, तो ऐसा पद मुझे नहीं चाहिये।

इन्द्र के अविवेक की पराकष्ठा है। ऐसी बात नहीं थी कि महाराज दिलीप के सौ अश्वमेध यज्ञ पूरा होते ही इन्द्र को उसके पद से हटाकर दिलीप को इन्द्र बना दिया जाता। शास्त्र कहते हैं कि जितने लोगों ने सौ अश्वमेघ यज्ञ किये हैं, वे सभी क्रम से इन्द्रपद प्राप्त करेंगे और उस पद का जितने कार्यकाल का विधान है, उतने काल तक इन्द्र बने रहेंगे। दिलीप का नाम भी सूची में लिख लिया जाता और जब उनका क्रम आता, तब वे इन्द्र बन जाते। तो अन्त में वह स्थिति आती है, जब व्यक्ति को लगता है कि जीवन में हम जो वस्तुएँ पाया करते हैं, वे पूर्णता की अभिव्यक्ति नहीं हैं। इसीलिये धर्म का फल है – वैराग्य, योग, ज्ञान तथा मुक्ति।

परन्तु महाराज मनु बड़े सजग व्यक्ति हैं। वे आत्मनिरीक्षण में अत्यन्त निपुण हैं। वे स्वयं को धोखा नहीं दे सकते। उन्होंने कहा कि वस्तुत: मेरे जीवन में तो वैराग्य नहीं आया। यहाँ पर साधनक्रम का बड़े महत्त्व का संकेत है। जब हमारे मन में किसी वस्तु के प्रति राग न रह जाय, तब उसे विराग कहते हैं। त्याग और विराग का अन्तर तो आप जानते ही होंगे। किसी वस्तु को हमने छोड़ दिया, तो वह त्याग है। परन्तु हो सकता है कि मन में उसके प्रति आकर्षण बना रहे। विराग का अर्थ है कि उस वस्तु के प्रति कोई राग भी न रह जाय। अविद्या के पाँच रूप बताये गये हैं – अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष तथा अभिनिवेष। और भक्ति का फल बताया गया है – जो व्यक्ति इस राम-चरित-मानस की पाँच-सात चौपाइयों को भी समझकर हृदय में धारण कर लेता है, वह इन अविद्याओं से उत्पन्न विकारों से मुक्त हो जाता है।

सत पंच चौपाई मनोहर
जानि जो नर उर धरै।
दारुन अबिद्या पंच जनित
बिकार श्री रघुबर हरै।। ७/१३०/२

बहुत सरल और बहुत कठिन। आज एक सज्जन ने एक कागज पर लिखकर भेज दिया – इस शतपंच का क्या अर्थ है? किसी ने अर्थ किया है – १०५, तो किसी ने – ५००। वह गणित का खेल है। इसके पीछे भावना यह रहती है कि ५०० पंक्तियों से मुक्ति हो जाय, यह बात तो समझ में आती है, पर ५ या ७ पंक्तियों से कैसे होगा? फिर वही चक्कर! यदि मुक्ति नहीं होना है, तो ५००० पंक्तियों से भी नहीं होगी और मुक्त होना है, तो ५ या ७ भी नहीं, १ पंक्ति ही यथेष्ट

है। तो यह समझने की बहुत बड़ी भूल है।

पाँच-सात तो गोस्वामीजी ने एक वाक्य के रूप में कहा – अरे भाई, पाँच-सात चौपाई ही सही। उसका अर्थ कोई पाँच सौ करे, एक सौ पाँच करे मुझे कोई आपत्ति नहीं है। आपको जितने में मुक्ति मिले आप उतना पढ़ लीजिए। मैं क्यों विरोध करने लगा ! आपको लगे कि रामायण एक पढ़ने से नहीं होगा, तो १०८ बार आवृत्ति करें, वह भी ठीक है। आप पाठ करते हैं तो इससे बढ़िया बात क्या होगी।

यदि आप ठीक-ठीक समझ लेंगे कि उन पंक्तियों में क्या रहस्य है, तो अविद्या, राग, द्वेष, अस्मिता, अभिनिवेष – इन पाँचों के पाश से मुक्त हो जायेंगे। अविद्या कोई साधारण वस्तु नहीं है। इनसे मुक्त होना बड़ा कठिन है। मनुष्य के जीवन में जो इतने राग या आसक्तियाँ हैं, वे कहाँ रहती हैं? महर्षि पतंजलि बताते है – **सुखानुशयी रागः** – जिसमें उसकी धारणा होती है कि इसमें सुख मिलेगा। (साधन. ७) सुख का अभिलाषी रागी या आसक्त बना रहता है।

मनु को लगा कि अभी तक मैं अपने जीवन में विरक्त तो नहीं हो पाया। परन्तु उनमें विवेक है कि यदि हम राग से मुक्त नहीं हो सके, तो भी क्या केवल सुख-भोग में ही अपने जीवन की सार्थकता मानते रहें? तब उन्होंने निर्णय किया – ठीक है, हमारे जीवन में विराग नहीं है, विराग के द्वारा हम मुक्ति पा सकते थे, परन्तु धन्य हैं मनु, जिन्होंने सोचा कि हम अपने अनुराग के द्वारा सम्पूर्ण विश्व के कल्याण हेतु भगवान का धरती पर अवतरण करायेंगे। स्वामी विवेकानन्द के जीवन में यह बात आती है कि भगवान श्रीरामकृष्ण ने उन्हें आत्म-साक्षात्कार की स्थिति में पहुँचने में अवरोध रखा, क्योंकि वे चाहते थे कि जगत् का कल्याण हो और वे स्वयं समाधि में निमग्न होकर मुक्त न हो जायँ।

यदि मनु ने उस मार्ग का अनुगमन किया होता, तो पहले वैराग्य, फिर वैराग्य से योग और योग से उन्हें ज्ञान अर्थात् मुक्ति मिल सकती थी, परन्तु उन्होंने मानव-जाति के कल्याण हेतु निर्णय किया कि जब मुझमें विराग नहीं है, तो मेरे लिये मुक्ति की दिशा में बढ़ने की चेष्टा उचित नहीं होगी। – तब? उनको भक्ति की याद आ गई। बोले – भक्ति में जब अनुराग का उपयोग हो सकता है, तो क्यों न संसार में जो राग है, मैं उसी को ले लूँ। उन्होंने सोचा – अनुराग में बन्धन है, तो भी ठीक है। उन्होंने निर्णय किया कि हम स्वयं अपने मुक्त होने की बात तो सोचेंगे ही नहीं, बल्कि हम भक्ति और अनुराग के द्वारा भगवान को ही बन्धन में बाँधने की चेष्टा करेंगे। एक नई दिशा अपनायेंगे। विराग से मुक्ति होती है, तो अनुराग से क्या होगा? किस विधि से उन्होंने भगवान को पाया, इस पर गोस्वामीजी ने जो लिखा है, उसी पर आगे चर्चा होगी। ❑✔

तुमको प्रभु का प्यार मिला है

भानुदत्त त्रिपाठी 'मधुरेश'

मत सोचो, मैं हूँ एकाकी,
कोई नहीं अवलम्बन मेरा,
जब-जब ध्यान किया है तुमने,
उसका सार-सँवार मिला है।
तुमको प्रभु का प्यार मिला है ।।

सरिता के कल-कल विलास में,
औ सुमनों के मधुर हास में,
विहगों के कल कूजन में प्रिय,
उसका स्वर साकार मिला है।
तुमको प्रभु का प्यार मिला है ।।

घर-गृहस्थ के काम-भोग में,
यतियों के अविराम योग में,
प्रियतम के दारुण वियोग में,
उसका ही आधार मिला है।
तुमको प्रभु का प्यार मिला है ।।

ज्ञानी की गम्भीर चाह में,
दीनों की भी करुण आह में,
भ्रमित जनों की विषम राह में,
वह जीवन-पतवार मिला है ।।
तुमको प्रभु का प्यार मिला है ।।

तंत्र-मंत्र विज्ञान-ज्ञान में,
दुख-दरिद्रता के विधान में,
शान्ति-सौख्य संयुत विहान में,
उसका दिव्य विचार मिला है।
तुमको प्रभु का प्यार मिला है ।।
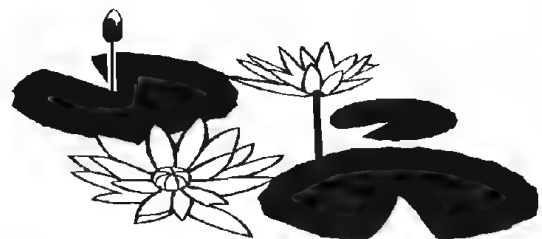
काठियावाड़ की कन्या

स्वामी जपानन्द

(रामकृष्ण संघ के एक वरिष्ठ संन्यासी स्वामी जपानन्द जी (१८९८-१९७२) श्रीमाँ सारदादेवी के शिष्य थे। स्वामी ब्रह्मानन्दजी से उन्हें संन्यास-दीक्षा मिली थी। उन्होंने बँगला में श्रीरामकृष्ण के कुछ शिष्यों तथा अपने अनुभवों के आधार पर कुछ रोचक संस्मरण लिपिबद्ध किये थे। अब तक हम उनके दो पुस्तकों 'प्रभु परमेश्वर जब रक्षा करें', 'मानवता की झाँकी' और 'आत्माराम की आत्मकथा' तथा संस्मरणों का धारावाहिक प्रकाशन कर चुके हैं। उन्होंने काठियावाड़ की कुछ कथाओं का भी पुनर्लेखन किया था, जिनमे से कुछ बँगला मासिक उद्बोधन में प्रकाशित भी हुए थे। क्रमश: उन्हीं रोचक, शिक्षाप्रद तथा प्रेरणादायी कथाओं का हिन्दी अनुवाद प्रस्तुत किया जा रहा है। – सं.)

सूर्य पश्चिमी आकाश में ढलता जा रहा था और मानो पथिकों से कहता जा रहा था – यथाशीघ्र सुरक्षित स्थान में आश्रय ले लो, मैं अब ज्यादा देर का मेहमान नहीं हूँ। अनजान पथ पर चलनेवाले यात्री उद्विग्न चित्त के साथ यत्र-तत्र मिलने वाले चरवाहों तथा खेत जोत रहे किसानों से बारम्बार पूछते हैं – "गाँव कितनी दूर है जी?" और तेजी से कदम बढ़ाते जाते हैं। पांचाल देश के एक पहाड़ी अंचल में कुछ घुड़सवार इसी प्रकार उद्विग्न भाव से बार-बार रास्ते के विषय में तथा गाँव की दूरी पूछ रहे थे। उनके साथ बैलगाड़ी में सवार थी – काठी-दरबार की एक युवती।

बहुत पुरानी बात है। उन दिनों संध्या के बाद रास्ता चलना खतरे से खाली नहीं था। सर्वदा साथ में अस्त्र-शस्त्र रखना पड़ता था और बड़ी सावधानीपूर्वक आवागमन करना पड़ता था। उन दिनों घोड़े, ऊंट, बैलगाड़ी आदि ही यातायात के साधन थे। मोटर तथा रेलगाड़ी आदि का तब तक जन्म नहीं हुआ था। उन दिनों लोग मृत्यु से डरते नहीं थे। क्योंकि बाहुओं में बल तथा हृदय में साहस होता था। उन दिनों पेट की चिन्ता इतने क्रूर रूप से दिन-रात पीड़ित नहीं करती थी, इसलिये शरीर पुष्ट होते थे। अभाव का बोध कम होने से लोगों में शिकवा-शिकायत का भाव भी कम था। माताएँ वीर-प्रसविनी होती थीं। आजकल के समान वे कुत्ते की भूँक सुनते ही द्वार नहीं बन्द कर लेती थीं। महिलाएँ परदे के पीछे रहने पर भी छुईमुई की लता के समान नहीं होती थीं, बल्कि जरूरत पड़ने पर रुद्राणी-चण्डिका होकर कुशलता के साथ शत्रु के प्राणों का संहार भी कर सकती थीं। यह कथा उसी युग के एक दिन की है।

पांचाल देश के एक पहाड़ी अंचल के मार्ग से होकर बैलगाड़ी में बैठी एक काठिया बालिका अपने पितृगृह की ममता को त्यागकर पति के घर जा रही थी। गाड़ी के चारों ओर परदा लगा दिया गया था, ताकि युवती के रूप-लावण्य पर किसी पुरुष की कलुष दृष्टि न पड़ सके। कुछ शस्त्रधारी घुड़सवार भी उसके अंगरक्षक होकर साथ जा रहे थे। उसके पति एक बड़े गाँव के जागीरदार या 'दरबार' थे, परन्तु वे पूर्णत: स्वतंत्र थे और शायद इसीलिये स्वभाव से ही तेजस्वी तथा निर्भीक थे। उनका गाँव चारों ओर घोर जंगलों तथा पर्वतों से घिरकर सुरक्षित था। उनकी विशेष सम्पत्तियों में थीं – अच्छी-अच्छी गायें और घड़े-भर दूध देनेवाली छोटे-छोटे हाथियों जैसी भैंसे। दूध-दही और बाजरे की मोटी-मोटी रोटियाँ ही उनका मुख्य भोजन था; और गाय चराना, घोड़े पर सवार होकर जंगलों में घूमना तथा अस्त्र चालन का अभ्यास उनका दैनन्दिन कर्म था। पढ़ना-लिखना वे नहीं जानते थे, परन्तु इस कारण वे बुद्धू भी नहीं थे। अपना भला-बुरा तथा अपने स्वार्थ की बात खूब समझते थे। उनके दिन-रात का अधिकांश समय मैदान, जंगल आदि में ही बीतता; गृह तथा गृहिणी से सम्पर्क काफी कम ही रहता। शरीर से वे वज्र के समान कठोर थे, परन्तु स्वभाव से उदार तथा प्रेमिक थे। सच कहें तो अधिकांश काठिया लोगों के समान ही उनका जीवन भी घर के बाहर प्रकृति की धूप-छाया, बादल-वर्षा के खेल के बीच ही बीतता और इसी कारण धनिक वर्ग के समान कवित्वमय प्रेमलीला इन लोगों के जीवन में अत्यन्त विरल ही देखने को मिलता। पर इससे यह नहीं समझ लेना चाहिये कि उन लोगों के जीवन में आनन्द नहीं था। ऐसी बात नहीं है। आनन्द आजकल की अपेक्षा बहुत अधिक था।

संध्या घिर आयी थी। गुर्जर देश के बड़े-बड़े बैल थे, तथापि पहाड़ के पथरीले मार्ग पर वे प्राय: कछुए की-सी धीमी गति से चल रहे थे। गन्तव्य स्थान तब भी काफी दूर है – यह सुनकर युवती तथा साथ के लोग विशेष चिन्तित हो उठे। चिन्ता का कारण यह था कि वे तब भी एक भयंकर मुस्लिम सरदार के इलाके में थे, जो काठी-कुल का परम शत्रु तथा युवती महिलाओं का भयंकर दुश्मन था। इस चिन्ता में मृत्यु का कोई भय नहीं था – आशंका थी, तो केवल काठी युवती की धर्मरक्षा के प्रश्न को लेकर!

गाड़ी 'कैं-कोंच, कैं-कोंच' की आवाज करती हुई मन्थर गति से चली जा रही थी। यह आवाज यात्रिणी के मन में गन्तव्य स्थान की दूरी को सूचित करते हुए उद्विग्नता की वृद्धि कर रही थी। 'कैं-कोंच, कैं-कोंच' ... जंगल के मार्ग से कुछ हट्टे-कट्टे अश्वारोहियों ने आकर गाड़ी को घेर लिया। बोले, "गाड़ी को रोक दो। सरदार का हुकुम है। ... उनका आतिथ्य ग्रहण किये बिना कोई भी इस इलाके से होकर नहीं जा सकता। विशेषकर दरबार के लोग! क्या आप लोग इस

बात को नहीं जानते?''

जिसकी आशंका थी, वही हुआ देख काठी लोग आप्राण जूझने के लिये तैयार हो गये। अवस्था संगीन है – ऐसा समझकर बुद्धिमती काठी-कन्या परदे के पीछे से बोली, ''सरदार के सौजन्य की बात सुनकर मैं अत्यन्त सन्तुष्ट हुई, परन्तु मैं काठी-दरबार की कन्या हूँ। यदि वे स्वयं आकर निमंत्रित न करें, तो मैं उनका आतिथ्य स्वीकार नहीं कर सकती।... ऐ, गाड़ी आगे बढ़ाओ।''

– ''ठहरिये, मैं सरदार का हुकुम लाने के लिये आदमी भेज रहा हूँ, कृपया तब तक गाड़ी को रोके रहिये!''

दुष्टों का रक्तपान करने के लिये काठी लोगों के हाथों में अस्त्र नाच रहे थे। विरोध की बात को समझ जाने से घोड़े भी स्थिर नहीं रह पा रहे थे और अपनी हिनहिनाहट से चारों दिशाओं को प्रतिध्वनित कर रहे थे। शीघ्र ही देखने में आया कि कुछ और भी घुड़सवार आ रहे हैं। उनके साथ मुसलमान सरदार भी था। अब क्या किया जाय?

– ''हे जगदम्बे, लाज बचाओ!!!''

सरदार के पास आते ही काठी-कन्या बोली, ''सरदार, मैं आपकी सौजन्यता पर विशेष सन्तुष्ट हूँ, पर आज की संध्या को आपका आतिथ्य नहीं स्वीकार कर सकूँगी। ईश्वर की इच्छा हुई, तो किसी अन्य दिन देखूँगी। आज जाने दीजिये।''

सरदार बोला, ''सुन्दरी, ऐसा भी क्या होता है! मेरा भी तो व्रत टूट जायेगा!''

कन्या – ''मैं भी एक विशेष व्रत लेकर जा रही हूँ, इसीलिये कह रही हूँ कि आज नहीं, किसी अन्य दिन आऊँगी!'' वह मन-ही-मन काठी लोगों को एकत्र करके इस दुष्ट को शिक्षा देने की बात सोच रही थी।

सरदार – ''ऐसा कौन-सा व्रत लिया है तुमने, जो मेरा आतिथ्य ग्रहण करने के लिये इतना-सा भी समय नहीं दे सकती? तुम्हारा गाँव अब अधिक दूर नहीं है, थोड़ी देर के लिये ही चलो न! मैं भी अतिथि-सत्कार करके धन्य हो जाऊँ।''

सरदार का स्वभाव सर्वविदित होने के कारण यह समझते देर न लगी कि उसकी इस मधुर उक्ति के पीछे कैसा भयंकर तात्पर्य था। कन्या सोच रही थी कि क्या उत्तर दें, तभी उसने देखा – सामने से काठी घुड़सवारों की एक अन्य टोली सामने की ओर से चली आ रही थी। साथ के काठियों के घोड़ों ने हिनहिना कर परिचितों के आगमन का संवाद दिया।

यह जानकर कि संध्या हो जाने पर भी उसके गाँव न पहुँचने के कारण उसके पति ही अपने लोगों को साथ लेकर आ रहे हैं, अत: काठी कन्या ने साहस जुटाकर कहा, ''अवश्य बताऊँगी। परन्तु आप अपने साथ के लोगों को थोड़ा किनारे करके, मेरे थोड़ा और निकट आइये, तो बताऊँ कि वह व्रत क्या है।''

यह कहकर उसने गाड़ी का परदा थोड़ा-सा खिसका दिया, ताकि सरदार उसे देख सके। सरदार उसका रूप देखकर अपना होशो-हवाश खो बैठा और अपने घोड़े के साथ उसके बिल्कुल पास जा पहुँचा। वह ज्योंही निकट पहुँचा, त्योंही वह मूर्त-चण्डिका की भाँति विद्युत्-वेग से उठ खड़ी हुई और अपने तलवार के एक ही प्रहार से उसके सिर को धड़ से अलग कर दिया! इसके साथ ही उसके संगीगण सरदार के लोगों पर बाज की भाँति टूट पड़े। उधर से भी काठी लोगों की टुकड़ी आ गयी थी, इसलिये वे लोग अपने-अपने प्राण बचाते हुए सिर पर पाँव लिये भाग निकले।

उसके पति ने जब सुना कि उसने कैसे युक्ति करके उस दुष्ट सरदार को मारकर अपने धर्म की रक्षा की है, तो वह अत्यन्त आह्लादित होकर बोल उठा, ''तुम धन्य हो काठियानी! तुम्हें समस्त काठी कन्याओं का आशीर्वाद प्राप्त होगा। स्त्री-जाति के प्रति अमानुषिक अत्याचार के लिये उसे समुचित दण्ड देकर तुम आज अमर कीर्ति की भाजन हुई हो।''

सभी – धन्य, धन्य – कहने लगे। महिलाएँ भी बोल उठीं, ''धन्य हो काठियावाड़ की कन्या!''

(काठियावाड़ की पुरानी लोककथा पर आधारित – उद्बोधन, वर्ष ५७, अंक ९ से अनूदित)

जीव लोहा है और ईश्वर चुम्बक

हृदय की तीव्र व्याकुलता के साथ क्या तुम उनके लिए रो सकते हो? लोग – स्त्री, पुत्र या धन के लिए कितना रोते हैं! परन्तु भगवान् के लिए कौन रोता है? जब तक बच्चा खिलौनों को लेकर खेलने में मग्न रहता है, तब तक उसकी माँ रसोई पकाने तथा गृहस्थी के अन्य काम करने में लगी रहती है। किन्तु जब बच्चा खेलने से ऊब जाता है और खिलौने फेंककर अपनी माँ के लिए रोने लगता है, तब उसकी माँ भात की हाँड़ी चूल्हे पर से उतार देती है और जल्दी से दौड़ती हुई बच्चे को गोद में उठा लेती है। ... यदि कोई भगवान् के लिए रोये तो उसे उनके दर्शन हो सकते हैं। – *श्रीरामकृष्ण*

सुरेन्द्रनाथ मित्र

स्वामी प्रभानन्द

(श्रीरामकृष्ण के जीवन-काल में अनेक नर-नारी उनके सम्पर्क में आये और क्रमश: उनके अनुरागी, भक्त या शिष्य बने। विद्वान् लेखक रामकृष्ण मठ तथा मिशन के महासचिव हैं। आपने अनेक प्रामाणिक ग्रन्थों के आधार पर कुछ विशिष्ट व्यक्तियों के साथ उनकी प्रारम्भिक मुलाकातों का वर्णन किया है। इस शृंखला के अनेक लेखों के अनुवाद १९७८ से १९८८ के दौरान विवेक-ज्योति में प्रकाशित हुए थे। वर्तमान लेख First Meetings with Sri Ramakrishna नामक अंग्रेजी ग्रन्थ से स्वामी श्रीकरानन्द जी द्वारा अनुवादित हुआ है। – सं.)

एक दिन सुरेन्द्रनाथ मित्र ने अपने मित्र तथा पड़ोसी, रामचन्द्र और मनोमोहन मित्र के पास अपने हृदय की परेशानियों एवं चिन्ताओं को व्यक्त किया। उन्होंने एक घटना का भी जिक्र किया। एक दिन दोपहर के भोजन के बाद वे अपनी बैठक में खड़े थे कि तभी गेरुए वस्त्र पहने हुए, बिखरे केशोंवाली, हाथ में त्रिशूल लिये काले रंग की एक भैरवी (तांत्रिक साधिका) उनके घर के सामने से गुजरी। सुरेन्द्रनाथ की ओर देखते हुए उसने कहा, "वत्स, सब शून्य है, एकमात्र वही सत्य है।" यद्यपि वे उसका मर्म न समझ सके, परन्तु उसने उन्हें गहराई से सोचने के लिए मजबूर कर दिया।[१] दोनों मित्रों ने बड़ी सहानुभूति के साथ सुरेन्द्रनाथ की बात सुनी, परन्तु वे उनकी चिन्ताओं का कारण न समझ सके और न उन्हें कोई उपाय ही बता सके। परन्तु रामचन्द्र ने, अपने निज के जीवन में प्रतिफलित श्रीरामकृष्ण देव के पावन सत्संग के प्रभाव का स्मरण करते हुए सुझाव दिया, "दक्षिणेश्वर में एक परमहंस निवास करते हैं। आप उनके पास क्यों नहीं जाते?"

मनोमोहन ने, न केवल रामचन्द्र के सुझाव का समर्थन किया, अपितु सुरेन्द्रनाथ को विश्वास दिलाने के लिए परमहंस के साथ घटे अपने निजी अनुभवों का भी वर्णन किया।

अँगरेजी शिक्षा प्राप्त और एक अँगरेजी फर्म में महत्त्वपूर्ण पद के अधिकारी सुरेन्द्रनाथ इस सुझाव पर हँस दिये और बोले, "आप लोग परमहंस को बहुत ऊँचा स्थान देते हैं, सो अच्छा है, परन्तु मुझे उनके पास क्यों भेजना चाहते हैं?" उनके मित्र हताश नहीं हुए। वे सुरेन्द्रनाथ के विषय में चिन्तित थे, अत: उन्होंने इस विषय को वहीं छोड़ नहीं दिया। वे लोग आग्रह करते रहे। अन्त में सुरेन्द्रनाथ राजी हुए, पर कहने लगे, "वहाँ हंसों के बीच मैं एक बगुले के समान हूँगा ! मैंने बहुत से ढोंगी देखे हैं। चलो, इनको भी देख लूँगा। पर याद रखना, यदि उन्होंने कुछ ऊल-जुलूल बका, तो मैं उनके कान खींच लूँगा।"[२] श्रीरामकृष्ण के विषय में वे लोग इतने आश्वस्त थे कि उन्होंने अपने मित्र की चुनौती स्वीकार कर ली।

उस समय के अन्य दूसरे शिक्षित युवकों की भाँति सुरेन्द्रनाथ भी अपनी नास्तिकता का गर्व करते और आचार-विचार से मुक्त बोहेमियन (यथेच्छाचारी) जीवन बिताते। उन्हें मद्यपान की भी लत थी। मनुष्य की स्वतंत्र इच्छाशक्ति के विषय में उनका दृष्टिकोण अतिशयोक्तिपूर्ण था। तब सुरेन्द्रनाथ तीस वर्ष की आयु के गोरे रंग के स्वस्थ-सबल शरीरवाले युवक थे। उनका दानी के रूप में भी नाम था।[३] यद्यपि दूसरों के साथ व्यवहार में वे कुछ कठोर थे, पर थे सरल, स्पष्टवादी और निश्छल।[४]

सन् १८८० साल के मध्य[५] के कुछ पहले ही एक दिन सुरेन्द्रनाथ – रामचन्द्र और मनोमोहन के साथ दक्षिणेश्वर के लिए रवाना हुए।[६] श्रीरामकृष्ण के कमरे में प्रवेश करते ही उन्होंने देखा कि वे तखत पर विराजित हैं और कमरे की फर्श पर कुछ

१. रामचन्द्र दत्त : श्रीश्रीरामकृष्ण परमहंसेर जीवन-वृत्तान्त (बँगला), पृ. ११५; **२.** भक्त मनोमोहन (बँगला), पृ. ७०

३. श्रीरामकृष्ण के कथन से तुलना करे, "तुम एक व्यापारी की दुकान में काम कर रहे हो।... तुम आफिस में झूठ बोलते हो, फिर भी तुम्हारी चीजें क्यों खाता हूँ? तुम दान-ध्यान जो करते हो। बारह हाथ ककड़ी का तेरह हाथ बीज !... जो दान-ध्यान करता है वह बहुत फल प्राप्त करता है, चतुर्वर्ग फल।" (श्री म : श्रीरामकृष्ण-वचनामृत, सं. १९९९, भाग २, पृ. ८२१-२२)

४. जब सुरेन्द्रनाथ श्रीरामकृष्ण से मिले थे, उसके कुछ ही दिन बाद श्रीरामकृष्ण ने उनके बारे में कहा था, "अहा, सुरेन्द्र का स्वभाव बहुत ही अच्छा हो गया है। बड़ा स्पष्ट, वक्ता है, बोलते समय किसी से दबता नही। और देखा मुक्तहस्त भी है। कोई उसके पास सहायता के लिए जाता है, तो उसे खाली हाथ नहीं लौटाता।" ('वचनामृत', भाग १, पृ. ५१६)

५. मनोमोहन मित्र ने 'मेरे जीवन की कहानी' नामक अपने अँगरेजी ग्रन्थ में लिखा है, "हम लोगों ने दक्षिणेश्वर जाना शुरू किया था कि उसके कुछ महीने बाद ही हमारा निकट के सम्बन्धी, परम विश्वासी और स्पष्टवक्ता सुरेन्द्रनाथ मित्र और उनके अनुज गिरीन्द्रनाथ मित्र भी हमारे साथ मिल गये।" रामचन्द्र और मनोमोहन श्रीरामकृष्ण से १३ नवम्बर, १८७९ को मिले थे। १८८१ के आरम्भ में श्रीरामकृष्ण का जन्मतिथि-महोत्सव प्रथम बार मनाने के पीछे सुरेन्द्रबाबू का ही प्रमुख हाथ था, उन्होंने ही सारा व्ययभार वहन किया था। फिर 'वचनामृत' (पृ. ११८३) में भी श्रीरामकृष्ण के सुरेन्द्रबाबू के यहाँ (जून-जुलाई) १८८१ में आगमन का उल्लेख है। इसलिए यह माना जा सकता है कि सुरेन्द्रबाबू श्रीरामकृष्ण से लगभग १८८० के मध्य में मिले थे।

६. रामकृष्ण मिशन की ३० मई, १८९७ को हुई छठवीं बैठक की रिपोर्ट में लिपिबद्ध सुरेन्द्रनाथ के अनुज गिरीन्द्रनाथ मित्र के संस्मरणों के अनुसार सुरेन्द्रबाबू श्रीरामकृष्ण के पास सर्वप्रथम जनवरी-फरवरी १८८१ में अमृत कृष्ण बसु के साथ गये थे।

भक्त लोग बैठे हुए हैं। अपने मित्रों से सुनकर सुरेन्द्रनाथ ने अपने मन में परमहंस की जो कल्पना सँजोयी थी, वह श्रीरामकृष्ण से प्रथम मिलने से उपजी धारणा से सर्वथा भिन्न थी। तथापि यह सच है कि श्रीरामकृष्ण का बाहरी रूप उन्हें प्रभावित न कर सका। दूसरे अनेक लोगों की भाँति ही सुरेन्द्रनाथ को भी पहले उनमें कुछ भी असाधारण न लगा। उन्होंने श्रीरामकृष्ण को न तो प्रणाम किया और न नमस्कार ही करने की जरूरत समझी। वे चुपचाप कमरे के एक कोने में बैठ गये, जबकि रामचन्द्र और मनोमोहन ने ठाकुर को साष्टांग प्रणाम किया और फिर बैठ गये। श्रीरामकृष्ण ने अपने स्वभाव के अनुसार पहले ही अभ्यागतों को हाथ जोड़कर नमस्कार किया।

श्रीरामकृष्ण ने अपनी गहरी आध्यात्मिक अन्तर्दृष्टि से जान लिया था कि नवागन्तुक कौन है। वे जान गये कि उनकी भौतिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए जगन्माता ने जिन लोगों को रसददार के रूप में नियत किया है, सुरेन्द्रनाथ उन्हीं में से एक हैं।[७] उन्हें अपने उस दर्शन की याद हो आयी होगी, जिसका वर्णन उन्होंने बाद की एक मुलाकात में किया था।[८]

सुरेन्द्रनाथ एक उड़ती दृष्टि से परमहंसदेव को परखने की चेष्टा कर रहे थे। परन्तु इससे पहले कि वे एक निश्चित धारणा बना पाते, उनका ध्यान श्रीरामकृष्ण की मधुर आवाज की ओर खिंच गया। नवागन्तुक की ओर ऊपरी तौर से कोई ध्यान न देते हुए श्रीरामकृष्ण ने अपना उपदेश जारी रखा। उन्होंने कहा, "अच्छा, मनुष्य भला बिल्ली का बच्चा होने की अपेक्षा बन्दर का बच्चा होना क्यों चुनता है? बन्दर के बच्चे को बड़े प्रयास से अपनी माँ से चिपटे रहना पड़ता है। परन्तु बिल्ली के बच्चे का स्वभाव भिन्न होता है। बच्चा स्वयं ही अपनी माँ से नहीं चिपट सकता। जमीन पर पड़े-पड़े सिर्फ 'म्याऊँ-म्याऊँ' चिल्लाता रहता है। वह पूरी तौर से अपनी माँ पर आश्रित रहता है। बिल्ली उसे कभी गद्दे पर रखती है, तो कभी छत पर बैठाती है और कभी लकड़ियों के ढेर में छिपा देती है। वह अपने बच्चे को अपने मुँह में दबाकर इधर-उधर ले जाती है। बन्दर के बच्चे की पकड़ कभी-कभी छूट जाती है और वह जमीन पर गिरकर घायल हो जाता है। परन्तु बिल्ली के बच्चे को ऐसा कोई भय नहीं रहता, क्योंकि उसकी माँ उसे सुरक्षित ले जाती है। पुरुषार्थ और ईश्वर के प्रति आत्म-समर्पण में यही अन्तर है।"

श्रीरामकृष्ण के शब्दों ने सुरेन्द्रबाबू के अन्त:स्तल को छू लिया। उन्हें ऐसा लगा कि वे शब्द मानों उन्हीं के लिए कहे गये हैं। उनके भीतर विचार उठने लगे, "मैं भी तो बन्दर के बच्चे की भाँति व्यवहार करता हूँ। अपनी इच्छाशक्ति पर भरोसा करके मैं स्व-प्रयास से सब काम सिद्ध कर लेना चाहता हूँ और इसका फल यह होता है कि मुझे बड़ा भुगतना पड़ता है। सर्वथा अपनी माँ पर आश्रित रहनेवाले उस बिल्ली के बच्चे की भाँति ही क्यों नहीं मैं भी अपने को ईश्वर के प्रति समर्पित कर देता?"

श्रीरामकृष्ण के शब्द हृदयस्पर्शी थे। सुरेन्द्रनाथ ने ऐसा पहले कभी नहीं सुना था। वे एक बुभुक्षु की भाँति आतुर होकर उस आध्यात्मिक भोज में सम्मिलित हो गये, जो श्रीरामकृष्ण ने उनके सामने परोस दिया था।

थोड़ा रुककर श्रीरामकृष्ण फिर कहने लगे, "जब माँ अपने बच्चे का हाथ पकड़ लेती है, तब गिरने का भय नहीं रहता। वर्षा के दिन में एक छोटा बच्चा अपने पिता के साथ खेत की फिसलन भरी मेड़ पर से होकर जा रहा है। अब यदि बच्चा अपने पिता की अँगुली पकड़कर चलता है, तो फिसलकर गिर सकता; परन्तु यदि पिता ने उसका हाथ पकड़ा हो, तो गिरने का कोई भय नहीं। इसी प्रकार यदि कोई पूर्णरूपेण जगदम्बा पर आश्रित हो जाय, तो उसके लिए कोई भय नही रह जाता, कोई समस्या ही नहीं रह जाती।"[९]

सुरेन्द्रनाथ ने राहत की साँस ली। उनके मन से दुश्चिन्ताओं का भार उसी प्रकार हट गया, जैसे आकाश में छाये मेघ पवन के द्वारा उड़ जाते हैं। उन्होंने निर्णय किया, "क्यों नहीं? मैं भी पूर्णरूपेण जगन्माता पर आश्रित होऊँगा और बीच-बीच में 'माँ, माँ' कहकर उन्हें पुकारूँगा। बाकी सब वे ही सँभालेगी।"

लम्बे उपदेश के बाद श्रीरामकृष्ण ने अपने भतीजे रामलाल को भक्तों के बीच जगदम्बा का प्रसाद वितरित करने का आदेश दिया। उन्होंने उनके आदेश का पालन किया।

अब बिदा लेने का समय आया। सुरेन्द्रनाथ अब एक बदले हुए व्यक्ति थे। उन्होंने जमीन पर अपना सिर टेककर श्रीरामकृष्ण को प्रणाम किया। श्रीरामकृष्ण ने समापन करते हुए मधुर तथा स्नेहपूर्ण स्वर में कहा, "फिर आना! क्यों आओगे न?" सुरेन्द्र अब श्रीरामकृष्ण को कभी भूल नहीं सकते थे, भले ही वे इसके लिए कितनी भी कोशिश क्यों न करते। वस्तुत: वे उन चतुर मछुआरे श्रीरामकृष्ण के दैवी प्रेम के जाल में फँस चुके थे।[१०]

मुलाकात के बाद लौटते समय सुरेन्द्रनाथ ने हँसते-हँसते स्वीकार करते हुए कहा, "अहा! कैसे उन्होंने पूरा पासा ही पलट दिया! कहाँ मैं उनके कान ऐंठने के लिए आया था;

७. स्वामी सारदानन्द : श्रीरामकृष्ण-लीलाप्रसंग, भाग २, सं. २००८, पृ. ७१७ : "सुरेन्द्रनाथ मित्र को 'आधा रसददार'... कहा करते थे।"

८. श्रीरामकृष्ण (सुरेन्द्र से) – "तुम्हारे योग भी है और भोग भी।... देवीभक्त धर्म तथा मोक्ष दोनों पाता है और अर्थ एवं काम का भी भोग करता है। तुम्हें एक दिन मैंने देवी-पुत्र के रूप में देखा था। तुम्हारे दोनों हैं – योग और भोग। नहीं तो तुम्हारा चेहरा सूखा हुआ होता।" ('वचनामृत', भाग १, पृ. ४०६)

९. गुरुदास बर्मन : श्रीश्रीरामकृष्ण-चरित (बँगला), पृ. १८८

१०. श्रीरामकृष्ण स्नेह से उन्हें 'सुरेन्दर' और कभी-कभी 'सुरेश' कहते। स्वामी सारदानन्द ने उनका 'श्रीरामकृष्ण के परम भक्त' कहकर वर्णन किया है। (लीलाप्रसंग, भाग २, सं. २००८, पृ. ९६३

और अब तो देख रहा हूँ कि उन्होंने ही मेरे कान ऐंठ लिये हैं।'' घटनाचक्र का सुन्दर परिणाम निकल आने से प्रसन्न हो उनके मित्र भी उनकी इस परिहास-भरी उक्ति को सुनकर ठहाका मारकर हँस पड़े। ''भला मैं कैसे अन्दाज लगा सकता था कि वे इतने महान् व्यक्ति होंगे?'' सुरेन्द्रनाथ ने गम्भीर होते हुए कहा, ''मैं कैसे सोच सकता था कि वे दूसरे के मन को पढ़ लेंगे?'' उत्तर में मनोमोहन और रामचन्द्र ने भी अपने साथ घटे इसी प्रकार के अनुभवों को बतलाया। सुरेन्द्रनाथ ने तब अपने मित्रों के पास अपनी मनोदशा का उद्घाटन करते हुए कहा कि इस संसार से वे इतने ऊब गये थे कि आत्मघात करने का विचार करने लगे थे। हताशा का शिकार हो वे कभी-कभी बहुत कष्ट पाते थे। जो हो, इस पहली मुलाकात के बाद से उनमें काफी परिवर्तन दिखने लगा। यहाँ तक कि उनकी वे खास बोहेमियन (यथेच्छाचार की) आदतें और मद्यपान की गहरी लत भी धीरे-धीरे कम हो गयीं। उनका संवेदनशील उदात्त स्वभाव सहज ही अध्यात्म की ओर झुक गया। वे अत्यन्त करुणा-विगलित स्वर में छोटे बच्चे की तरह जगदम्बा के लिए रोते,[११] और उन्हीं के सम्बन्ध में बातें करना चाहते। वे प्राय: माँ के गहरे ध्यान में निमग्न हो जाते।

सुरेन्द्र ही पहले व्यक्ति थे, जिन्होंने श्रीरामकृष्ण के सर्व-धर्म-समन्वय के सन्देश को एक तैल-चित्र के माध्यम से चित्रित करवाया था। चित्र में दर्शाया गया था कि श्रीरामकृष्ण श्रीयुत केशवचन्द्र सेन को दिखाते हुए बतला रहे हैं कि विभिन्न धर्मावलम्बी अलग-अलग रास्तों से उसी एक लक्ष्य को पहुँचते हैं। श्रीरामकृष्ण ने इस चित्र की प्रशंसा की थी। उन्होंने कहा था, ''हाँ, वह एक विशेष ढंग का है; उसके भीतर सब कुछ है – वह आधुनिक भाव का चित्र है।''[१२]

श्रीरामकृष्ण के जीवन तथा सन्देश के भावों निमग्न होकर सुरेन्द्रनाथ आजीवन क्रम-वर्धमान रामकृष्ण भावधारा के एक सुदृढ़ समर्थक बने रहे। २५ मई १८९० ई. को उनका देहान्त हुआ। इससे भी महत्त्वपूर्ण बात यह है कि श्रीरामकृष्ण व्यक्ति के भीतर जो अद्‌भुत रूपान्तरण ला दिया करते थे, उनका चरित्र उसी का एक सजीव निदर्शन है। ❑❑❑

११. सुरेन्द्रनाथ श्रीरामकृष्ण को जगन्माता के रूप में देखते थे। एक बार उन्होंने श्रीरामकृष्ण से कहा, ''आज एक तो पहला वैशाख है, दूसरे मंगल का दिन; कालीघाट जाना नहीं हुआ। मैंने सोचा, काली का चिन्तन करके स्वयं ही जो काली बन गये हैं, अब चलकर उन्हीं के दर्शन करूँ; इसी से हो जाएगा।'' श्रीरामकृष्ण मुस्करा उठे। ... ''कल संक्रान्ति थी, मैं यहाँ तो नहीं आ सका, परन्तु घर में आपके चित्र को फूलों से खूब सजाया।'' श्रीरामकृष्ण सुरेन्द्र की भक्ति की बात मणि को संकेत करके सूचित करने लगे। (वचनामृत, भाग २, पृ. ११४८)

१२. वही, भाग २, पृ. ९७५

माता-पिता का ऋण

मनुष्य के कुछ ऋण होते हैं – देवऋण, ऋषिऋण; फिर मातृऋण, पितृऋण, स्त्रीऋण। माता-पिता के ऋण को चुकाए बिना कोई कार्य सफल नहीं हो पाता। स्त्री के प्रति भी ऋण होता है।

माता-पिता क्या कम हैं? उनके प्रसन्न हुए बिना धर्म-कर्म कुछ नहीं हो पाता। चैतन्यदेव को ही लो। वे तो प्रेम से उन्मत्त हो गए थे, तो भी संन्यास लेने के पहले वे कितने दिनों तक अपनी माता को मनाते रहे! उन्होंने कहा था, ''माँ! मैं बीच-बीच में आकर तुम्हें देख जाया करूँगा।''

संसार में माता-पिता परम गुरु हैं। वे जब तक जीवित रहें तब तक यथाशक्ति उनकी सेवा करनी चाहिए और उनकी मृत्यु के बाद यथासाध्य उनका श्राद्ध करना चाहिए। जो पुत्र अत्यन्त निर्धन है, जिसमें श्राद्ध आदि करवाने की सामर्थ्य नहीं है, उसे भी वन में जाकर उनका स्मरण करते हुए रोना चाहिए, तभी उनका ऋण चुकता है।

केवल ईश्वर के लिए ही माता-पिता की आज्ञा का उल्लंघन किया जा सकता है। जैसे कि प्रह्लाद ने पिता के मना करने पर भी कृष्ण-नाम लेना नहीं छोड़ा। ध्रुव, माँ के मना करने पर भी तपस्या करने वन में गये। इससे उन्हें कोई दोष नहीं लगा।

एक बात और! यदि किसी की प्रेमोन्माद की अवस्था हो जाए, तो फिर कौन बाप, कौन माँ और स्त्री! ईश्वर पर इतना प्रेम हो कि मतवाला बन जाय! फिर उसके लिए कोई कर्तव्य नहीं रह जाता। वह सभी ऋणों से मुक्त हो जाता है। यह प्रेमोन्माद की अवस्था आने पर मनुष्य को संसार का विस्मरण हो जाता है, अपनी देह जो इतनी प्यारी होती है, उसकी भी सुध नहीं रह जाती।

❑❑❑ *– श्रीरामकृष्ण*
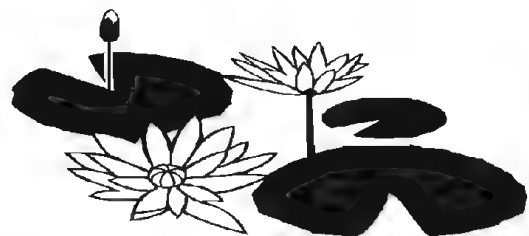
स्वच्छता का महत्व

स्वामी आत्मानन्द

(ब्रह्मलीन स्वामी आत्मानन्दजी ने आकाशवाणी के चिन्तन कार्यक्रम के लिये विविध विषयों पर अनेक विचारोत्तेजक लेख लिखे थे, जो उसके विभिन्न केन्द्रों द्वारा प्रसारित किये गये तथा लोकप्रिय भी हुए। प्रस्तुत लेख आकाशवाणी, रायपुर से साभार गृहीत हुआ है। – सं.)

स्वच्छता को भी देशों में सर्वोपरि महत्त्व दिया गया है। अँगरेजी में तो एक कहावत ही है कि Cleanliness is next to godliness – अर्थात् ईश्वरत्व के बाद यदि किसी की महत्ता है, तो वह है स्वच्छता की। यह उचित ही है, क्योंकि ईश्वर समस्त शुभ का प्रतीक है और जहाँ भी शुभत्व है, वहाँ हमें पावित्र्य का बोध होता है। पावित्र्य और शुभत्व दोनों साथ-साथ चलते हैं, एक के बिना दूसरे की कल्पना नहीं की जा सकती। फिर पावित्र्य स्वच्छता का ही तो दूसरा नाम है!

सर्वप्रथम है शारीरिक स्वच्छता। हम शरीर को जल के द्वारा स्वच्छ करते हैं। हमारे वस्त्र भी साफ-सुथरे होने चाहिए। इसका मतलब यह नहीं कि वे धोबी के यहाँ से ही धुलकर आयें और इस्तरी किये हुए हों। तात्पर्य केवल इतना है कि वे मैले न हों। उसके बाद है मन की पवित्रता। मन को बुरे विचारों से बचाने का तरीका है उसे व्यस्त रखना और अवकाश के समय उसे स्वस्थ मनोरंजन में लगाना। मन खाली रहने पर बहुत उछल-कूद करता है और कई प्रकार के अवांछनीय विचारों को पोस लेता है। फिर वाणी पर नियंत्रण भी बहुत आवश्यक है। जो वचन पूर्णत: पवित्र न हों, उनसे हमें बचना चाहिए। हमें इस प्रकार से बर्ताव करना चाहिए, जिससे दूसरे लोग हमारे सामने कोई अशुभ चर्चा करने का साहस न कर सकें। हमें सदैव यही प्रयत्न करना चाहिए कि शुभ विचारों का एक अन्तर्प्रवाह हमारे भीतर बहता रहे। वह बुरे विचारों से हमारी रक्षा करेगा और हमारे चारों ओर पवित्रता तथा नैतिकता का वातावरण बनाएगा।

परन्तु ध्यान रहे, ऐसा कहना तो सरल है, पर करना नहीं। जब हम शुभ विचार मन में उठाने की कोशिश करते हैं, तो सामान्यत: सफल नहीं होते। मन की पवित्रता के लिए हमें कुछ बातों पर विशेष ध्यान देना होगा। पहली तो यह कि हम सोने से पहले ऐसा साहित्य न पढ़ें, जो हमारी उत्तेजना को बढ़ावे और हमारी निम्न मनोवृत्तियों को जगावे। कारण यह कि हमारे सो जाने के बाद भी वह उत्तेजना हमारे अवचेतन मन को प्रभावित करती रहती है। इसका परिणाम बहुत बुरा होता है। चाहिए तो यह कि हम उस समय अपने मन को किसी पवित्र विचार या ध्वनि में लगाएँ। ज्यों-ज्यों हम निद्रा की गोद में उतरते जायँ, त्यों-त्यों उस पवित्र विचार या ध्वनि का शान्तिपूर्ण और गहरा चिन्तन करें। अपने अवचेतन मन के उपादानों को बदलने का यह सबसे प्रभावी साधन है। वास्तविक शुचिता अवचेतन मन को बदलने से आती है। हम जाग्रत अवस्था में बलपूर्वक अपने चेतन मन को अपवित्र बातों की ओर जाने से एक बार रोक भी सकते हैं, पर यदि हमारा अवचेतन मन शुद्ध नहीं हुआ, तो स्वप्न में हम उन बातों का अनुभव करते हैं जिनकी ओर जाने से हमने चेतन मन को बलपूर्वक रोक दिया था। अत: मन की स्वच्छता का मापदण्ड स्वप्न है। यदि स्वप्न में भी हमारा मन अपवित्र बातों की ओर न जाता हो, तो समझ लेना चाहिए कि हमने मानसिक स्वच्छता हासिल कर ली है।

इस अवस्था की उपलब्धि के लिए दूसरी बात यह है कि हमें अच्छी आदतें डालनी होगी और उन्हें पुष्ट करना होगा। यह प्रक्रिया हमारे मन को शक्ति प्रदान करेगी। वास्तव में मन की दुर्बलता का कारण उसकी अस्वच्छता होती है। स्वच्छ मन शक्ति का भण्डार होता है। निर्मल हुआ मन निडरतापूर्वक सत्य का सामना करता है। और मृत्यु जीवन का सबसे बड़ा सत्य है। अत: निर्मल मन मृत्यु-भय को जीत लेता है। वह हमें सिखाता है कि अरथी उतनी ही सत्य है, जितना कि पालना; श्मशान उतना ही सत्य है, जितनी कि सौरी। फिर एक से हम क्यों भागें और दूसरे से उत्फुल्ल क्यों हों? न तो हम जीवन से चिपकें और न मृत्यु से भागें।

जो व्यक्ति इस प्रकार तन, मन और वचन से स्वच्छ हो जाता है, वह ईश्वरत्व के निकट पहुँच जाता है। वह मानवता के लिए वरदान-स्वरूप बन जाता है। ❑ ❑ ❑

रामकृष्ण-भावधारा : एक विहंगम दृष्टि (२)

स्वामी सत्यरूपानन्द

(रामचरितमानस के प्रसिद्ध कथाकार श्री मोरारी बापू ने गुजरात के महुआ ग्राम में जनवरी, २००९ में 'अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर सर्वधर्म-सम्मेलन' का आयोजन किया था, जिसमें श्री दलाईलामा से लेकर देश-विदेश के अनेकों धर्मावलम्बियों ने भाग लेकर अपने धार्मिक सद्भाव पूर्ण विचार प्रकट किये थे। श्री मोरारी बापू के हार्दिक आग्रह एवं बेलूड़ मठ के निर्देश पर रामकृष्ण मिशन, बेलूड़ मठ के प्रतिनिधि के रूप में, रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम, रायपुर के सचिव स्वामी सत्यरूपानन्द जी महाराज, अपने व्यस्त कार्यक्रम के बावजूद इस सम्मेलन में पधारे तथा श्री बापूजी के निवेदन पर स्वामी विवेकानन्द द्वारा अनुमोदित सर्वधर्म-समन्वय का संदेशक 'रामकृष्ण-भावधारा' पर अपना महत्वपूर्ण सर्वजनहितकारी व्याख्यान दिया। हम उसी जनप्रिय व्याख्यान को 'विवेक ज्योति' के पाठकों हेतु प्रकाशित कर रहे हैं। इसका सी.डी. से अनुलिखन रायपुर के श्रीदुर्गेश ताम्रकार और कामिनी ताम्रकार ने किया तथा संपादन स्वामी प्रपत्त्यानन्द जी ने किया है। - सं)

दूसरी ओर हमारे देश में ईसाई लोग आये। अंग्रेज एक बड़ी कुटील जाति थी और है। हाँ, केवल थी नहीं, है। उनलोगों ने चालाकी से कहा कि महारानी विक्टोरिया ने घोषणा है कि हम आपके धर्म में हस्तक्षेप नहीं करेंगे। लेकिन वे लोग अपने साथ ईसाई पादरी ले आये। उनको सब प्रकार की सुविधायें दीं और उनसे कहा कि छत्रछाया हमारी और काम तुम करो। उनका एक ही काम था हिन्दू-धर्म की निन्दा करना। स्वामी विवेकानन्द उसी परम्परा में पढ़े थे। वे श्रीरामकृष्ण परमहंस के पास जाने के पहले केशवचन्द्र सेन के पास आते-जाते थे। विवेकानन्द होने के पहले, जब वे नरेन्द्रनाथ थे, तब वे भी सोचा करते थे कि ईसाई पादरी ठीक ही कहते हैं। ये मूर्तिपूजा और जाति-पाति ठीक नहीं है। स्वामी विवेकानन्द जैसे ऋषि भी प्रारम्भ में अद्वैत वेदान्त को पगालपन कहते थे। वे कहते थे कि यदि दुनिया में सबसे बड़ा कोई पाप है, तो यह कहना है कि अहं ब्रह्मास्मि – मैं ब्रह्म हूँ। इससे बड़ा पाप नहीं है। अपने मित्रों के साथ हँसी उड़ाते हुये कहते कि देखो, यह तुम्हारे रामकृष्ण परमहंस का अद्वैत वेदान्त है। यह लोटा ब्रह्म है, यह कटोरी ब्रह्म है। इस प्रकार वे सबकी हँसी उड़ाया करते थे। हिन्दू समाज में धर्म की उस समय जो अवस्था थी, सिमट कर केवल अनुष्ठानों और लोकाचार में रह गयी थी। धर्म के मूल तत्त्व की ओर किसी का ध्यान नहीं गया था। सब सोचते थे कि मेरे गाँव का देवता ही देवता है। मेरा अनुष्ठान ही ठीक है। अगर किसी ने बायें हाथ से पानी पी लिया, तो उसकी जात चली गई। दाहिने हाथ से कुछ खाकर किसी को छू दिया, तो पूरा गाँव जूठा हो गया। इस तरह के अनुष्ठानों के कारण सारा समाज धर्म के सम्बन्ध में भ्रमित था। पर कुछ लोग थे, जो सचमुच में धर्म का जीवित वास्तविक स्वरूप देखना चाहते थे।

धर्म के सच्चे स्वरूप को दिखाने के लिये ही भगवान श्रीरामकृष्णदेव का जन्म १८३६ में हुआ। इतिहास का विचित्र संयोग है कि उनके जन्म के १८ साल पहले जर्मनी में सन् १८१८ में कार्ल मार्क्स का जन्म हुआ। वे पदार्थवादी, भोगवादी विचारधारा के थे। चार्वाक का मत है कि ऋणं कृत्वा घृतम् पिबेत्। चार्वाक-विचारधारा के प्रतीक काल मार्क्स और उनके अनुयायी थे, जो धर्म को मिटाने पर तुले हुये थे। उसी समय श्रीरामकृष्ण देव का आविर्भाव हुआ।

भगवान रामकृष्ण देव के जन्म की बड़ी विलक्षण घटना है। उनके पिता श्री क्षुदिराम जी अपने पितरों का श्राद्ध आदि करने के लिए गया धाम गये हुये थे। उनके इष्टदेव श्रीराम थे। वे श्रीराम की पूजा करते थे। श्रीरामकृष्ण देव के इष्टदेव भी श्रीराम थे। उनकी भी राम-मंत्र में दीक्षा हुई थी। वे भी श्रीराम के पुजारी थे, बाद में उनकी दीक्षा शक्ति मंत्र में हुई थी। इस प्रकार यह एक धार्मिक परिवार था।

एक दिन गया धाम में श्री क्षुदीराम जी को स्वप्न हुआ। भगवान विष्णु ने स्वप्न में आकर क्षुदिराम जी से कहा कि मैं तुम्हारे घर में संतान रूप में आना चाहता हूँ। तुम मेरी सेवा करना। उन्होंने कहा – प्रभु, मैं दीन-हीन दरिद्र ब्राह्मण हूँ। मैं आपकी सेवा कैसे कर सकूँगा? मेरे पास तो कुछ भी नहीं है। स्वप्न में ही भगवान विष्णु ने कहा, तुम जो कुछ मुझको दोगे, मैं उसी से संतुष्ट हो जाऊँगा। १८३४-३५ की यह घटना है। क्षुदीराम जी गया धाम से श्राद्ध करके लौटे। १८३६ में श्रीरामकृष्ण देव का जन्म हुआ। जब वे सात वर्ष के थे, तभी उनके पिता की मृत्यु हो गयी। उनके बड़े भाई रामकुमार चट्टोपाध्याय, जो श्रीरामकृष्ण देव से ३० वर्ष बड़े थे, उन्होंने अपने छोटे-भाई का लालन-पालन आदि किया।

अब उनके जीवन के कुछ दृष्टान्तों से हम देखें कि कैसे श्रीरामकृष्ण भावधारा समीचीन है, कैसे विश्वजनीन है, कैसे सम्पूर्ण विश्व के लिए है, सम्पूर्ण लोक के लिए है। यह किसी सम्प्रदाय-विशेष के लिये नहीं है।

आपसे एक और निवेदन करूँ कि संसार में वस्तुत: धर्म तो केवल एक ही है, बाकी ये हिन्दू, मुसलमान, ईसाई, सिक्ख, जैन आदि धर्म तथा दूसरे विभिन्न प्रकार के जो हिन्दुओं के सैकड़ों धर्म हैं, ये सब उपासना पद्धतियाँ हैं। ये संप्रदाय हैं। धर्म तो एक ही है, जो सनातन है, अनादि काल से है, अनन्त काल से है। धर्म का मूल तत्त्व क्या है?

स्वामी विवेकानन्द जी कहते हैं, मनुष्य में पहले से ही विद्यमान देवत्व, दिव्यता की अनुभूति ही धर्म है। मनुष्य दिव्य है। मनुष्य के हृदय में परमात्मा विराजमान हैं। उस परमात्मा की अनुभूति और अभिव्यक्ति करने वाले बहुत से संत हुए, जिन्होंने गृह त्यागकर हिमालय में जाकर तपस्या की तथा अनुभूति की। किन्तु उन्होंने अभिव्यक्ति को आवश्यक नहीं समझा। उन लोगों ने अभिव्यक्ति किये बिना ही अपनी इह-लीला समाप्त कर ली।

किन्तु भगवान श्रीरामकृष्ण देव के मन में किशोरावस्था से ही ईश्वर-प्राप्ति की प्रबल आकांक्षा थी। भविष्य में उन्होंने कहा भी कि मनुष्य के जीवन का लक्ष्य है ईश्वर-प्राप्ति। श्रीरामकृष्ण देव की इस युग की सबसे बड़ी देनों में से एक यह है कि उन्होंने मनुष्य जीवन का एक निश्चित लक्ष्य हमें बताया। स्वयं एक जगह बातचीत में वे कहते हैं, रूपये से क्या होता है? भोजन की व्यवस्था, रहने की व्यवस्था, थोड़ी दूसरी सुविधायें। लेकिन उससे ईश्वर की प्राप्ति नहीं हो सकती। इसलिए रूपया मनुष्य के जीवन का उद्देश्य नहीं हो सकता। आज इस युग में तो रूपया ही मनुष्य के जीवन का उद्देश्य हो गया है। व्यक्ति अपना संपूर्ण जीवन धन कमाने में लगा देता है और धर्म का मेरु खड़ा कर देता है। लेकिन बाद में उसे समझ में आता है कि वह अपनी भग्न आकांक्षाओं को लेकर धन के मेरु पर खड़ा होकर तड़पकर प्राण त्यागने को तैयार है। उसका धन उसकी कोई सहायता नहीं कर सकता।

श्रीरामकृष्ण देव का जन्म ब्राह्मण-परिवार में हुआ था। पुरोहिती उनके परिवार का कर्म था। उनके बड़े भाई संस्कृत, शास्त्रों और ज्योतिष के विद्वान थे। साथ ही उन्हें वाक्-सिद्धि भी थी। श्रीरामकृष्ण कमारपुकुर गाँव में, जहाँ इनका जन्म हुआ था, वहाँ अपनी माँ के साथ रहते थे। पिताजी का तो बचपन में देहावसान हो गया था। इनके बड़े भाई धन कमाने के लिये कलकता आ गये, जहाँ आकर उन्होंने संस्कृत पाठशाला प्रारम्भ की और कुछ गृहस्थों के घरों में जाकर पुजारी का काम भी करने लगे। इससे उनकी जीविका चलने लगी। एक बार वे अपने गाँव लौटकर गये, तो देखा कि छोटा भाई गदाई गाँव के पाठशाला में पढ़ने नहीं जाता है। श्रीरामकृष्ण का बचपन का नाम गदाधर था, उन्हें घर में 'गदाई' कहते थे। उन्हें लेकर वे कलकता में आ गये। यहाँ आकर श्रीरामकृष्ण अपने बड़े भाई की सेवा में लग गये तथा उनके कार्यों में सहायता करने लगे। बड़े भाई के निर्देश पर कुछ गृहस्थों के घरों में वे भी पूजा करने लगे। उनकी प्रेम से की गयी पूजा और पुरोहिती के काम को गृहस्थ लोग देखकर दंग रह जाते कि १६-१७ साल का किशोर इतनी निष्ठा से पूजा करता है, इतना अच्छा भजन गाता है। यह सब तो ठीक था, किन्तु वे पढ़ते नहीं थे। ऐसा देखकर उनके भाई जो महापंडित थे और संस्कृत की पाठशाला भी चलाते थे, उन्होंने एकदिन कहा – अरे गदाई ! ब्राह्मण का पुत्र होकर यदि तुम नहीं पढ़ेगा-लिखेगा, तो जीविका कैसे चलेगी? उन्होंने अपने बड़े भाई को जो उत्तर दिया, वह रामकृष्ण भावधारा का आधार है। उन्होंने अपने भाई से कहा – दादा (भैया), मैं रोटी-कपड़ा कमानेवाली विद्या नहीं पढ़ना चाहता। मैं ऐसी विद्या पढ़ना चाहता हूँ, जो मुझे इसी जीवन में मुक्त कर दे। सभी प्रकार के बन्धनों से मुक्त कर दे। सा विद्या या विमुक्तये – जो मुक्ति दे दे, वही विद्या है। रामकुमार जी चकित तो अवश्य हुये, किन्तु यह सोचकर कि थोड़ा बड़ा होने पर समझ जायेगा, इसलिये उस समय पढ़ने के लिये उन पर दबाव नहीं डाला।

फिर घटनाक्रम ऐसा है कि रानी रासमणी के मंदिर की स्थापना हुई। उसमें भी एक बड़ी महत्वपूर्ण घटना घटी। तत्कालीन पंडितों ने कहा कि रानी रासमणी मछुवारे-जाति की हैं, इसलिये हमलोग मछुआरिन द्वारा बनाये हुए मंदिर में पूजा नहीं करेंगे। हम वहाँ अन्न-ग्रहण नहीं करेंगे। इस घोर संकट से उबारने के लिये रानी रासमणी ने श्रीरामकृष्ण के बड़े भाई रामकुमार चट्टोपाध्याय को बुलाकर अपनी समस्या बतायी। उन्होंने शास्त्र के प्रमाणों से सिद्ध कर रानी को परामर्श दिया कि यदि इस मंदिर को आप अपने ब्राह्मण कुल-गुरु को दान कर दें, तब किसी ब्राह्मण को यहाँ आकर पूजा करने में कोई आपत्ति नहीं हो सकती। जब रानी ने वैसा कर दिया, तो स्वयं रामकुमारजी ने पूजा करना स्वीकार कर लिया। उस समय श्रीरामकृष्ण देव अपने बड़े भाई रामकुमार जी के पास दक्षिणेश्वर में ही रहते थे। यह ईश्वरीय योजना थी। मई, १८५५ में दक्षिणेश्वर में काली मंदिर की स्थापना हुई थी। संयोगवश १८५६ में रामकुमार जी की मृत्यु हो गई। इसलिये श्रीरामकृष्ण को मंदिर में पुजारी का पद स्वीकार करना पड़ा।

(शेष आगामी अंक में)

पश्चाताप का परिणाम

आशापूर्णा देवी

रूप-चतुर्भुज ! काले घुँघराले बालों से सुशोभित वंशीधारी श्याम की किशोर मूर्ति ! जैसे विग्रह के रूप की परिकल्पना हुई है, वैसे ही नाम की भी परिकल्पना हुई है। इस कल्पना के भीतर मानो सुषमापूर्ण एक सुमधुर भाव की अभिव्यक्ति छिपी हुई है।

रूप-चतुर्भुज का मन्दिर – किसी विशेष तीर्थ-स्थान के किसी विख्यात देव-मन्दिर का नाम नहीं है। ये उदयपुर के निकट स्थित किसी गाँव के ग्रामदेवता का नाम है। सुप्रतिष्ठित मन्दिरों के समान ही यहाँ भी नित्य सेवा-पूजा की व्यवस्था है और एक पुजारी-वंश भी है। वंश-परम्परा से ये लोग ही देव-सेवा के अधिकारी हैं। उन दिनों 'देवा' नामक पुरोहित विग्रह के सेवक थे। देवसेवा करते-करते देवा के बाल पक चुके थे, शरीर दुर्बल हो चुका था, परन्तु जीविका चलाने के लिये उसे इस काम को चलाते ही जाना था।

'देवा' – यह एक वृद्ध पुरोहित का नाम था ! यह कैसा अश्रद्धापूर्ण तथा अपमानसूचक नाम था ! ऐसा क्यों हुआ? यह बताने के लिये यह भी बताना पड़ेगा कि देवा का बचपन ही उसके इस नाम के लिये उत्तरदायी है।

कौन जाने देवा का पूरा नाम क्या था ! हो सकता है कि देवनाथ रहा हो, या देवराज, या देवजीवन अथवा वैसा ही कुछ और रहा हो। परन्तु अब वह नाम किसी को याद नहीं रह गया है। सब लोग उसे 'देवा' के रूप में ही जानते हैं।

ब्राह्मण-कुल में जन्म लेने पर भी, बचपन से ही उसका स्वभाव गड़ेरिये बालकों के समान था। पढ़ाई-लिखाई में उसका जरा भी मन नहीं लगता था। मैदानों, जंगलों तथा पहाड़ों की गोद में घूमने और खेलने में ही देवा को मजा आता था। इसी कारण निरक्षर देवा के लिये पूजा-पद्धति सीखना या शास्त्र पढ़ना सम्भव नहीं हो सका था। पिता की मृत्यु के उपरान्त केवल उत्तराधिकार के रूप में ही किशोर देवा को देवपूजा का अधिकार मिला था। उत्तराधिकार के द्वारा कर्म में अधिकार मिलने पर भी, श्रद्धा-सम्मान का अधिकार तो प्राप्त नहीं होता। गाँव के सभी लोग उसे तिरस्कार के स्वर में 'देवा पुजारी' कहकर सम्बोधित करते। आज तक उसका यही नाम रह गया है। परन्तु आजीवन देवपूजा करने के फलस्वरूप भी क्या अपढ़ देवा के हृदय से अज्ञान का अँधेरा जरा भी दूर नहीं हुआ था? यह बात भला कौन जान सकता था !

लोग देखते कि वृद्ध ब्राह्मण प्रतिदिन सुबह आकर मन्दिर के द्वार खोलते हैं, फर्श की सफाई करते हैं और बासी फूल-पत्तों को बाहर फेंकने के बाद नये माले बनाकर विग्रह के हाथ-गले तथा मस्तक पर सजाते हैं, दीपक जलाते हैं, घण्टा बजाते हैं और भोग चढ़ाते हैं। इसके बाद सेवायत-पुजारी के लिये नियत लड्डू-मिठाई आदि के प्रसाद को एक पोटली में बाँधकर, मन्दिर के द्वार पर साँकल लगाकर घर लौट जाते हैं – बस, इतना ही।

शाम को भी यही पद्धति दुहराई जाती। परन्तु एक अन्तर है – सुबह के समय, जैसे सारे जगत् में कर्म के लिये चहल-पहल शुरू हो जाती है और दैनन्दिन जरूरतों के हजारों तकाजों से चित्त चंचल हो उठता है; शाम को वैसा नहीं होता ! शाम को पक्षीगण अपने घोसलों में लौटकर अपने पंखों को समेटकर बैठ जाते हैं; ग्वाल-बालों द्वारा हाँके जा रहे गाय-बछड़ों का झुण्ड गोशालों में आकर आश्रय लेता है; किसान अपने धान की कटनी बन्द कर देते हैं; कुम्हार की चाक थम जाती है और लुहार की निहाई ठण्डी हो जाती है। संध्या के समय गृहस्थ महिलाएँ भी दिन का कार्य समाप्त करके और रात का कार्य स्थगित रखकर, शान्तिपूर्वक बैठ जाती हैं। बच्चे भी अपने शरीर की धूल झाड़ने के बाद माँ के पास आकर खड़े हो जाते हैं।

संध्या के आकाश में अनन्त अवकाश का सुर बजता है।

इसीलिये पुरोहित देवा, संध्या की पूजा समाप्त हो जाने के बाद भी निश्चिन्त चित्त के साथ काफी देर मन्दिर में ही बिताते हैं। कभी-कभार वे अगले दिन की पूजा के लिये बर्तन आदि साफ करके रख देते हैं और कभी मृदु स्वर में भजन गुनगुनाते रहते हैं। फिर रात हो जाने पर वे विग्रह का राजवेश उतारकर रात के वस्त्र पहनाने के बाद उन्हें 'शयन' दे देते हैं। इसके बाद वे प्रसादी माले को अपने सिर पर बाँधकर मन्दिर के द्वार पर ताला लगाकर घर लौट जाते हैं। यही उनकी नित्य की दिनचर्या है।

गृहस्थ लोग जब मन्दिर में पूजा करने आते हैं, तो नाम-मात्र को दक्षिणा देते हैं। वे लोग हास-परिहास के स्वर में कहते हैं, "जैसा ब्राह्मण, वैसी दक्षिणा।" महिलाएँ रोते हुए बच्चों को भय दिखाते हुए कहती हैं – चुप रह, नहीं तो अभी देवा आ जायेगा। उनके लिये देवा मानो हौव्वा है।

परन्तु इसके लिये देवा के मन में कोई क्षोभ नहीं होता। शान्त अल्पभाषी प्रसन्नचित्र ब्राह्मण अपने कार्य तथा अपने संसार में ही मस्त रहते हैं। तो भी उनके जीवन में विडम्बना

आती है, स्वयं को ही लेकर विडम्बना आती है।

एक दिन संध्या के समय देवा घोर विपत्ति में पड़ गये।

उस दिन प्रचण्ड गर्मी थी। शाम होने को आ गयी, तो भी हवा का नामो-निशान तक न था। संध्या की आरती समाप्त करने के बाद देवा को तीव्र प्यास का अनुभव हुआ। तब भी मन्दिर का थोड़ा-बहुत कार्य बाकी था। घर भी काफी दूर था। अत: थोड़ा आगा-पीछा करने के बाद देवा ने प्रसाद के दो लड्डुओं के साथ देवता को निवेदन किये हुए जल को पी लिया। आज मन्दिर के भीतर बैठकर भजन गाना भी सम्भव नहीं था, क्योंकि भीतर असह्य उमस थी। देवा ने अन्य दिनों की अपेक्षा थोड़ा पहले ही प्रसादी माले को अपने सिर में बाँध लिया और देव-विग्रह को 'शयन' देने के बाद तीव्र गति से बचे हुए कार्य निपटाने लगे। उसी समय सहसा मन्दिर के द्वार पर जोर से थपथपाने की आवाज आयी।

यह क्या! इस समय द्वार को कौन थपथपा रहा है! ऐसा तो किसी दिन नहीं होता। इतनी रात गये, गाँव के एक छोर पर स्थित इस मन्दिर की ओर तो कोई आता नहीं। पूजा आदि जो कुछ भी करना हो, लोग दिन में ही कर जाते हैं। पता नहीं क्यों, एक अज्ञात आतंक से देवा का हृदय काँप उठा। उन्होंने चिन्ता तथा उद्वेग के साथ सिर में बँधी हुई माला उतारकर रख दी और मन्दिर के द्वार की ओर दौड़ गये। और इसके साथ-ही-साथ वृद्ध देवा का होशो-हवाश प्राय: लुप्त होने को आ गया।

मन्दिर के द्वार पर शिकारी की वेशभूषा पहने अस्त्र-शस्त्रों से सज्जित स्वयं महाराणा खड़े थे।

नहीं, नहीं, देवा को पहचानने में भूल नहीं हुई थी। अभी कुछ ही दिनों पूर्व महाराणा ने वार्षिक पितृश्राद्ध के अवसर पर ब्राह्मण पण्डितों की जिस विदाई का आयोजन किया था, देवा उस सभा में उपस्थित थे। यद्यपि वे शास्त्रज्ञ विद्वान् नहीं थे, तो भी देव-मन्दिर की पुरोहिती के अधिकार के चलते ही उन्हें राजसभा में भी उपस्थित होने का अधिकार प्राप्त था।

पहचानने में भूल तो नहीं हुई, परन्तु देवा की जबान को मानो साँप सूँघ गया था। कौन जाने किसलिये यह आगमन हुआ है! क्या किसी ने राजा के कानों में यह सूचना पहुँचा दी है कि देवा अपढ़ तथा शास्त्र-ज्ञान से अपरिचित है? क्या इसी अपराध में देवा की वृद्धावस्था में उनकी यह छोटी-सी आजीविका छिन जायेगी? सम्भवत: वास्तविक बात यही है, क्योंकि गाँव में हिताकांक्षियों की तो कोई कमी नहीं है

देवा मौन, नत मस्तक तथा अंजली बाँधे खड़े रहे।

किन्तु राणा ने देवा से कोई भयंकर बात नहीं कही। जो कुछ उन्होंने कहा, उसका सार-संक्षेप यह था कि वे शिकार के नशे में मृग-शावक के पीछे-पीछे घोड़ा दौड़ाते हुए अपने संगियों से बिछुड़ गये हैं और इस समय प्यास से आकुल हैं। यहाँ मन्दिर में दीपक जलता हुआ देखकर वे आशापूर्ण चित्त के साथ अपनी प्यास मिटाने हेतु दौड़े चले आये हैं। अब वे चाहते हैं कि पुजारी उन्हें थोड़ा-सा जल पिलाकर उनकी तृष्णा को शान्त करें। वे अत्यन्त थके-मादे हैं और तत्काल केवल थोड़ा-सा जल मात्र ही चाहते हैं।

जल मात्र! देवा की पूरी छाती राजपुताना की मरुभूमि के समान ही धू-धू कर धधक उठी। उनके कण्ठ और तालू उसी मरुभूमि के समान सूख गये। आज शाम, देवा ने विग्रह के पीने के पात्र में जल ढालने के बाद देखा था कि कलशी में बिन्दु मात्र भी जल नहीं बचा है। आज की इस भीषण गर्मी के प्रचण्ड ताप ने ही मिट्टी के घड़े का आधे से भी अधिक जल सोख लिया था। काम पूरा हो चुका है, यह सोचकर देवा, रात के अन्धकार में दूरी पर स्थित कुँए से पानी लाने नहीं गये थे और इस संकट को भी आज ही आना था।

देवा हाथ जोड़कर बोले, "प्रभो, थोड़ा विश्राम कीजिये, मैं जल ले आता हूँ।"

अधीर राणा ने नाराजगी के स्वर में कहा, "मुझे विश्राम की जरूरत नहीं है, पुजारी! सबसे पहले पानी लाओ।"

देवा ने द्रुत वेग से मन्दिर में प्रवेश किया और हताश भाव से एक बार चारों ओर दृष्टिपात किया – नहीं, कहीं भी एक बूँद भी पानी नहीं है। अत: अन्य कोई उपाय न देख, देवा ने खाली घड़े को उठा लिया और मन्दिर के बाहर की ओर चल पड़े। प्यास से पीड़ित राणा को सब कुछ समझते देर न लगी। उनका पारा ऊपर चढ़ गया। वे क्रुद्ध स्वर में बोल उठे, "आप क्या मिट्टी खोदकर पानी लाने जा रहे हैं?"

देवा के तो हाथ-पाँव फूल गये, तो भी बड़ी कठिनाई से साहस जुटाकर वे बोले, "नहीं प्रभो, निकट ही देवता के लिये समर्पित एक निर्मल कुँआ है, मैं इसी क्षण ...।"

राणा ने व्यंग्य के सुर में कहा, "तो आज क्या देव-विग्रह के भाग्य में भी पीने का पानी नहीं जुट सका है?"

देवा विस्मित भाव से बोले, "यह क्या कहते हैं प्रभो?"

– "और क्या सोचा जाय! नहीं तो मुझे उनका प्रसादी जल देकर ही आप मेरी पिपासा की निवृत्ति कर सकते थे।"

देवा बड़ी मुश्किल में पड़े। उत्तर की आशा में राणा प्रतीक्षा करते रहे। भय से देवा के हाथ-पाँव थर-थर काँपने लगे। अब इस प्यास से आकुल राज-अतिथि के सामने कैसे कहा जाय कि 'उस पानी को मैं स्वयं पी चुका हूँ'? देवा ने मन-ही-मन सोचा – बचपन से ही सुनता आया हूँ कि ईश्वर प्रत्येक मनुष्य के भीतर विद्यमान हैं, तो फिर मेरे भीतर भी अवश्य ही होंगे। इसलिये अब भाग्य में जो लिखा हो –

देवा ने नतमस्तक होकर कहा, 'प्रभो, देवता को निवेदित

किया गया जल स्वयं देवता ने ही ग्रहण कर लिया है।''

राणा आश्चर्यचकित हो उठे। परन्तु अगले ही क्षण उनका पूरा शरीर क्रोध से तिलमिला उठा। वे सोचने लगे – ''ओह, यह तिकड़मबाज ब्राह्मण कैसा दुष्ट और पापी है! निश्चय ही आलस्य के कारण आज यह जल नहीं लाया और इसने देवता को उपवासी ही रखा है, किन्तु अब विपत्ति में पड़कर सहज भाव से ही ऐसा भयंकर झूठ बोल रहा है।''

राणा ने अपने तलवार पर हाथ रखकर कहा, ''ब्राह्मण! देव-स्थान में झूठ बोलने की क्या सजा है – जानते हो?''

देवा निश्चित रूप से समझ गये थे कि आज उनके जीवन का अन्तिम दिन है, तो भी भय एक ऐसी वृत्ति है, जिसके कारण वे सिर नहीं उठा सके। राणा गम्भीर स्वर में बोले, ''रहने दो, ब्राह्मण के रक्त से मैं अपने तलवार को कलंकित नहीं करना चाहता। तुम्हारा फैसला कल होगा।''

राणा को प्रस्थान के लिये उद्यत देखकर देवा अपने भय को भूल गये और व्यग्रतापूर्वक बोले, ''प्रभो, कल जो होगा, सो होगा; परन्तु आज आप जल पीये बिना नहीं जायेंगे। प्यासे को 'जलदान' न कर पाने से मेरे सम्पूर्ण जीवन की देव -सेवा का फल व्यर्थ हो जायेगा।''

महाराणा ने गरजते हुए कहा, ''मैं मिथ्यावादी – झूठ बोलनेवाले के हाथ का पानी नहीं पीता।''

मिथ्यावादी! देवा के पूरे शरीर में एक अद्‌भुत साहस का ज्वार तरंगायित हो उठा। उन्होंने अपना सिर उठाकर दृढ़ स्वर में कहा, ''मैं मिथ्यावादी नहीं हूँ।''

– ''तुम मिथ्यावादी नहीं हो?''

– ''कदापि नहीं।''

राणा ने न जाने क्या सोचकर अपने क्रोध का संवरण कर लिया और बोले, ''ठीक है, तो फिर जल लाओ, मैं मन्दिर के भीतर प्रतीक्षा करता हूँ।''

संकट को टला सोचकर देवा तीव्र गति से जल लाने चले गये। महाराणा ने मन्दिर के भीतर प्रवेश करके देखा – देवता को शय्या पर लिटाया हुआ है और उनके पास ही एक खाली जलपात्र तथा मिठाई का पात्र पड़ा है। महाराणा के होठों पर व्यंग्य की एक मृदु हँसी खेल गयी। ओह, तो लोभी ब्राह्मण ने स्वयं ही प्रसाद का सदुपयोग कर लिया है।

महाराणा ने निर्धन ग्राम्य ब्राह्मण के प्रति थोड़ी कृपा का बोध किया। इसके बाद जब देवा जल लेकर उपस्थित हुए, तो वे बिना अपना क्रोध प्रकट किये हँसते हुए बोले, ''कल मैं भगवान 'रूप-चतुर्भुज' को भोग चढ़ाऊँगा और दोपहर तक यहीं उपस्थित रहूँगा, क्योंकि मैं देवता का भोजन तथा जलपान देखने को विशेष उत्सुक हूँ।''

कहना न होगा कि देवा मौन रह गये।

विदा होते समय राणा ने हाथ आगे बढ़ाकर कहा, ''पुजारी महाराज, वह प्रसादी माला मुझे दे दीजिये।''

फिर! फिर एक बार वही संकट!

हे भगवान, हे रूप-चतुर्भुज, देवा आज सुबह किसका मुख देखकर उठा था? यह माला अब भला किस प्रकार राजा के सिर पर अर्पित किया जाय? यह तो देवा द्वारा स्वयं के उपयोग में लायी हुई माला थी! उन्हें क्षण भर पहले की राणा की उग्रमूर्ति का स्मरण हो आया। देवा ने काँपते हुए हाथों से माला उन्हें सौंप दिया।

फूलों में कहीं कीड़े-मकोड़े तो नहीं हैं – गले में पहनने के पूर्व, प्रकाश में देखने के लिये महाराणा उसे दीपक के पास ले गये। माले का निरीक्षण करने के बाद वे घृणा तथा व्यंग्य से मिश्रित एक भयानक हँसी के साथ बोले, ''महाराज, लगता है कि भगवान 'रूप-चतुर्भुज' के केश अब पकने लग गये हैं!'' सुनकर देवा तो सन्न रह गये।

महाराणा पुन: बोले, ''देवता की माला में अनेक पके बाल लिपटे हुए दिख रहे हैं। नारायण तो अब वृद्ध हो चले हैं – सही बात है न?''

फिर वही भय! बुद्धि-ध्वंसकारी भय! देवा मंत्रचालित के समान बोल पड़े, ''हाँ, महाराणा!''

ओह! यह कैसी धृष्टता! कैसा दु:साहस! राजपूत का खून और कितना सहन कर सकता था! तो भी महाराणा ने दाँत पीसते हुए किसी प्रकार अपने क्रोध को दबा लिया और बोले, ''तो ठीक है, ओ सत्यवादी ब्राह्मण, कल पूरे ग्रामवासियों के समक्ष तुम्हारी सत्यवादिता की परीक्षा होगी।''

माला को तोड़-मरोड़ कर फेंकते हुए महाराणा ने वीरदर्प के साथ मन्दिर से प्रस्थान किया। और इसके साथ-ही-साथ देवा भी देवविग्रह के सम्मुख धरती पर लोट गये और कातर स्वर में प्रार्थना करने लगे – ''प्रभो चतुर्भुज, यह आपने क्या किया! देवा के मुख से ऐसा निर्लज्ज झूठ क्यों बुलवाया? कल इस वृद्ध के मस्तक पर न जाने कौन-सा कलंक लिखा जायेगा! मृत्यु-दण्ड तो बल्कि अच्छा था, पर यदि पूरे गाँव के सामने अपमानित होना पड़ा तो! प्रभो, सुना है कि तुम लज्जा-निवारण हरि हो। युग-युग में, जब-तब तुम अपने भक्तों की लज्जा बचाते हो। तो क्या अपना चिरकाल का यह 'लज्जा-निवारण' नाम एक बार फिर सार्थक नहीं करोगे?''

प्रार्थना करते समय देवा के मन में एक और विचार आया। वे हताश चित्त से सोचने लगे, ''यह मैं किस मुख से कह रहा हूँ कि हे नारायण, भक्त की रक्षा करो! मैंने भला कब उनसे प्रेम किया है? मैं केवल पेट भरने मात्र के लिये ही तो देवसेवा कर रहा हूँ! ऐसी देवसेवा में भी अहंकार!

देवा के नेत्रों की अश्रुधार ने उनके सीने को भिगो दिया। पश्चाताप की अग्नि में चित्त शुद्ध हो उठता है। अनन्त परमेश्वर का ध्यान करने से, अज्ञान-अन्धकार से आच्छन्न हृदय-मन्दिर में ज्ञान की ज्योति प्रगट हो जाती है। पश्चाताप और आत्म-चिन्तन – ये दोनों ही मानो दो चकमक पत्थर हैं ! इन दोनों के संयुक्त घर्षण से ज्ञान-ज्योति प्रज्वलित हो उठती है। राजभय से आतंकित देवा के हृदय में दिव्य ज्ञान का संचार हुआ। देवा के मन में केवल यही विचार मथित होने लगा – ''यह मैंने क्या कर डाला?''

राजकोप से बचने की प्रार्थना को देवा के मन में स्थान नहीं मिला। केवल उनके नेत्रों से निरन्तर निकल रही अश्रुधारा उनकी छाती को भिगाती रही। – ''हे चतुर्भुज नारायण, हे त्रिलोकीनाथ, एक सामान्य मनुष्य के भय के कारण जिस मुख से तुम्हारे सजीव विग्रह के समक्ष झूठी वाणी उच्चरित हुई, वह मुख इसी क्षण दग्ध हो जाय, भस्म हो जाय, या फिर विकृत – कुत्सित हो जाय। देवा के मन में ऐसा साहस प्रदान करो कि ग्रामवासियों के सम्मुख अपना वह विकृत-दग्ध मुख दिखाकर अपना पाप व्यक्त कर सके।

रोते-रोते, उस अनुतप्त अभागे को न जाने कब नींद आ गयी। भोर की बेला में देवा ने एक अद्भुत स्वप्न देखा – रूप-चतुर्भुज वंशीधारी श्यामसुन्दर के सारे काले-काले घुघराले केश श्वेत रूपहले रंग के हो गये हैं और उन उज्ज्वल रूपहले केशों के नीचे स्थित उस अपूर्व सुन्दर मुख-मण्डल पर एक अद्भुत अभय हास्य की रेखा विराज रही है !

सुबह होते-न-होते पूरे गाँव में ढिढोरा पिटवा दिया गया कि सभी लोग चतुर्भुज-मन्दिर के प्रांगण में एकत्र हो जायँ। वहाँ देवा का फैसला किया जायेगा। कुतूहल से भरी जनता वहाँ टोलियाँ बना-बनाकर हाजिर होने लगी।

परन्तु देवा तो निद्रामग्न था।

सुबह का सूर्य थोड़ा चढ़ते-न-चढ़ते विशाल नगाड़ा बज उठा – महाराणा की सवारी आ रही है। तप्त सँड़सी से देवा की जीभ को काटने के लिये, उनके साथ जल्लाद भी आया था। जो व्यक्ति देव-मन्दिर का पुजारी होकर भी राजा के समक्ष झूठ बोल सकता है, उसके लिये इसके अतिरिक्त दूसरी क्या सजा हो सकती थी?

– ''ऐ बुड्ढे, उठ !'' सिपाहियों की यह चिल्लाहट सुनकर देवा हड़बड़ाकर उठ बैठे। उन्होंने अवाक् होकर चारों तरफ देखा। जनता की ओर दृष्टि जाते ही उन्हें पिछली रात की सारी बातें याद आ गयीं। परन्तु अब देवा के हृदय से भय दूर हो चुका था। जो अपने प्राणों का समर्पण कर चुका हो, उसके पास भय भला कैसे टिक सकती है? कहाँ टिकेगी? जिसे ईश्वर की अनुभूति हो जाती है, उसके भय की ही मृत्यु हो जाती है। जिसे आत्मा की उपलब्धि हो जाती है, उसके भय की इतिश्री – समाप्ति हो जाती है।

शिष्टाचार के अनुसार देवा ने महाराणा का अभिवादन किया। महाराणा उच्च स्वर में बोल उठे, ''इस पापीष्ठ ब्राह्मण की जीभ ज्वलन्त सँड़सी से खींच लो। इसने देवता और राजा के समक्ष मिथ्या वाणी का उच्चारण किया है।''

हिंस्र जनता में कोलाहल मच गया। एक के अपमान से दूसरों को आनन्द ! एक के कलंकित होने से दूसरों को उल्लास ! चाहे कोई शत्रु हो या न हो, परन्तु अपनी आँखों के सामने किसी को अपमानित होते देखने पर मनुष्य के भीतर बैठा हिंस्र पशु उल्लसित हो अट्टहास करने लगता है।

देवा ने किसी ओर दृष्टिपात नहीं किया। केवल दृढ़ भाव से कहा, ''महाराणा, मैंने झूठ नहीं बोला है !''

– ''फिर ! फिर वही निर्लज्जता ! सुन रहे हो तुम लोग, यह भक्त ब्राह्मण कहता है कि चतुर्भुज नारायण वृद्ध हो गये हैं। उनके केश पक गये हैं। कहता है कि उनकी मूर्ति ने जल पीया है ! अब फिर कह रहा है कि सत्य बोला है। इसको क्या सजा मिलनी उचित है?''

जनता में कोलाहल मच गया, ''इसे प्रज्वलन्त आग में फेंक दिया जाय !'' – ''जंगली कुत्तों से नुचवा लिया जाय !'' – ''जीभ काट लिया जाय !'' – ''मारो, मारो, जान से मार डालो !''

गाँव के एक वृद्ध आगे बढ़ आये। जनता को शान्त करने के उद्देश्य से अपने दोनों हाथ उठाकर बोले, ''तो ठीक है, सजा देने के पूर्व एक बार सच-झूठ की परीक्षा ले ली जाय। रूप-चतुर्भुज की शय्या से मच्छरदानी हटाकर एक बार (विग्रह का) दर्शन कर लिया जाय।''

– ''ठीक है, ठीक है !''

– ''ऐ देवा, तुम ठाकुरजी को नींद से उठाओ।''

देवा धीरे-धीरे विग्रह के सिंहासन की ओर अग्रसर हुए और धीरे-धीरे ठाकुरजी की मच्छरदानी हटा दी।

मन्दिर की खिड़की के मार्ग से सुबह का प्रकाश भीतर आकर झिलमिला रहा था, विग्रह के अंग के स्वर्ण-आभूषण भी झिलमिला रहे थे। और उसी आलोक में उनकी श्वेत घुँघराली केशराशि भी झिलमिला रही थी। पत्थर से निर्मित देवता के बाल चाँदी के तारों के समान ज्योतिर्मय हो रहे थे।

उसी केशराशि के नीचे अपूर्व सुन्दर मुख-मण्डल पर एक अद्भुत अभय हास्य की रेखा फैली हुई थी।

जादू ! जादू ! माया ! माया ! क्या दुःसाहस है ! इस पापी ने देवता पर जादू कर दिया है !

(शेष अगले पृष्ठ पर)

ओंकारेश्वर-तीर्थ में स्वामी विवेकानन्द

स्वामी विदेहात्मानन्द

'स्वामी विवेकानन्द का महाराष्ट्र-भ्रमण' नामक ग्रन्थ[१] में वर्तमान लेखक ने परिव्राजक के रूप में स्वामीजी के मध्य भारत में भ्रमण पर चर्चा की है। वहाँ बताया गया है कि खण्डवा से वे इन्दौर आये थे और ऐसी सम्भावना है कि उस दौरान उन्होंने आसपास के कुछ स्थानों, विशेषकर ओंकारेश्वर तथा उज्जैन स्थित महाकालेश्वर शिव के दर्शनार्थ भी अवश्य गये होंगे। स्वामी गम्भीरानन्दजी भी लिखते हैं, "किसी जीवनी में उल्लेख न होने पर भी हम सहज ही अनुमान लगा सकते हैं कि केवल खण्डवा और इन्दौर देखने के लिए ही स्वामीजी इस क्षेत्र में नहीं आए थे। सम्भवत: क्षिप्रा-तटवर्ती उज्जैन तथा एवं नर्मदा-तटवर्ती (अन्य) तीर्थ-स्थानों के आकर्षण से ही वे वहाँ आए थे और उन सबका दर्शन किया था।"[२] एक वरिष्ठ संन्यासी से हमें उनके ओंकारेश्वर पधारने का एक रोचक विवरण प्राप्त हुआ है, जिसे हम यथावत् प्रस्तुत करने की चेष्टा कर रहे हैं। उन्होंने हमें बताया –

"यह घटना १९८७-८८ ई. के दौरान हुई। तब मैं दूसरी बार तपस्या हेतु नर्मदा-तट पर गया था और करीब डेढ़ वर्ष बाद बेलूड़ मठ लौटा। होशंगाबाद में कई महीने ठहरने के बाद भी मुझे साधना के लिये कोई उपयुक्त निर्जन स्थान नहीं मिल रहा था। अत: मैं एक वन-अधिकारी चौबेजी तथा बबलूजी नामक एक अन्य युवक के साथ उपयुक्त स्थान की खोज में होशंगाबाद से ओंकारेश्वर गया। वे दोनों मनमौजी स्वभाव के थे। अत: ओंकारेश्वर पहुँचकर हम सभी ने नर्मदा-तट पर बिखरी बालुका-राशि पर ही ठहरने का निश्चय किया। हमें वहाँ दो रातें बितानी थी। सुबह और शाम की चाय हम एक होटल में पी लेते थे। वे लोग दुकान से थोड़ा आटा तथा अचार और इधर-उधर से लकड़ियाँ बिनकर ले आते और दोपहर तथा रात के समय बिना तवे के ही हाथ से टिक्कड़ बना लेते। दिन का बाकी समय हम मन्दिरों में दर्शन और मेरे लिये एक निर्जन स्थान की खोज में बिता देते।

"अगले दिन नर्मदाजी में स्नान करते समय हमें वहाँ पर एक वृद्ध संन्यासी दिखायी दिये। वे भी वहाँ स्नान के लिये ही आये थे। हमने यथारीति 'ॐ नमो नारायणाय' कहकर एक-दूसरे का अभिवादन किया। वे एक स्थानीय संन्यासी थे और उन्हें देखकर लगा कि वे परम्परागत ढंग से निष्ठापूर्वक कठोर तपस्या का जीवन बिताते हैं। उनकी आयु अस्सी से कम नहीं रही होगी। उन्होंने उत्सुकतापूर्वक मेरे सम्प्रदाय या अखाड़े के विषय में जिज्ञासा प्रकट की। जब मैंने बताया कि मैं रामकृष्ण-संघ का हूँ, तो तत्काल उनकी आँखों में चमक आ गयी और वे बोल उठे, 'आपके आचरण तथा पहरावे से मुझे ऐसा ही लगा था।' इसके बाद, वे सम्मानपूर्वक हाथ जोड़कर रुँधे हुए गले से बोले, "यद्यपि मुझे संन्यास बाहर से मिला है, तथापि मैं श्रीरामकृष्ण को अपने हृदय-मन्दिर में बसाकर एकाकी निवास करता हूँ।" इसके बाद हम लोगों में बातचीत आरम्भ हुई। वे हिन्दी में बोल रहे थे और थोड़ी-बहुत अंग्रेजी भी जानते थे। हमारी बातें आध्यात्मिक जीवन, अतीन्द्रिय अनुभूतियों की सत्यता तथा कुछ शास्त्रीय विषयों पर केन्द्रित रहीं। इसके बाद रामकृष्ण-भावधारा तथा वर्तमान युग में इसके प्रसार की महती आवश्यकता पर बातें करते हुए आखिरकार हमारी बातें स्वामीजी तक जा पहुँचीं। इसी चर्चा के दौरान उन्होंने स्वामीजी के ओंकारेश्वर-यात्रा का भी वर्णन किया। अब (२००८ ई. में) करीब बीस वर्षों बाद मैं अपनी धुँधली स्मृति से उनके शब्दों को लिपिबद्ध करने की चेष्टा कर रहा हूँ। विवरण इस प्रकार है –

१. प्रकाशक – रामकृष्ण मठ, नागपुर, प्रथम सं. २००३ ई., पृ. ७६
२. युगनायक विवेकानन्द, नागपुर, प्रथम सं., खण्ड १, पृ. ३०५-६

पिछले पृष्ठ का शेषांश

महाराणा तेज स्वर में गरज उठे, "सोचा था कि ब्राह्मण की जान नहीं लूँगा, परन्तु ऐसे भयंकर पापीष्ठ आदमी को जीवित छोड़ देना भी महापाप है। इसने रातो-रात देवता को नकली बाल पहना दिये हैं। उन नकली बालों को उखाड़ लाओ और उनको ब्राह्मण के गले में लपेटकर इसकी साँस रोककर इसे मार डालो।"

जल्लाद भी काँप उठा। कौन साहस करता इस आदेश को पालन करने का! भले ही नकली हों, परन्तु देवता के बाल उखाड़ने का भला कौन साहस करेगा! और कोई नहीं, तो महाराणा स्वयं तो थे ही!

वे सत्य के गर्व से भरे हुए स्वयं ही दर्प के साथ आगे बढ़े और बलपूर्वक विग्रह के मस्तक से एक गुच्छा बाल उखाड़ लिया। इसके साथ-ही-साथ रूप-चतुर्भुज के ललाट के ऊपर से होकर खून की कई बूँदें लुढ़कने लगीं।

महाराणा मूर्छित होकर धरती पर लोट गये!

* * *

किंम्बदन्ती है कि आज भी राणा अथवा उनके किसी भी वंशधर को उस मन्दिर में प्रवेश करने का अधिकार नहीं है।

(एक प्रचलित कथा के आधार पर – बँगला मासिक 'उद्बोधन', वर्ष ५९, अंक ९ से अनुवादित)

'उन वृद्ध संन्यासी ने मुझे बताया कि (१९२० के दशक के किसी शुरुआती वर्ष में) अपनी तरुणावस्था में वे संसार को त्यागकर ओंकारेश्वर चले आये थे और वहाँ एक ब्रह्मचारी के रूप में निवास करते थे। उन दिनों वे एक सम्मानित तथा शास्त्रों में निष्णात वयस्क संन्यासी से अपने आध्यात्मिक जीवन के लिये दिशा-निर्देश प्राप्त करते हुए अपनी साधना में निरत थे। वे संन्यासी, अपने तपोमय जीवन के कारण ओंकारेश्वर में 'साधुराज' के नाम से सुपरिचित थे। साधुराज एक निर्जन आश्रम में रहकर अपनी साधना में तल्लीन रहते थे, परन्तु वे स्वयं भिक्षा के लिये न जाकर आश्रम के अन्य अन्तेवासियों को प्राप्त भिक्षा के अंश पर ही निर्वाह करते थे। वे विनम्रता की प्रतिमूर्ति थे, उनमें दिखावे का कोई भाव न था और उनकी भोजन आदि की जरूरतें भी अति अल्प थीं। संन्यासी 'साधुराज' के बारे में ऐसी प्रगाढ़ श्रद्धा के साथ बोल रहे थे, जैसी हम अपने संघ के अध्यक्षों के प्रति रखते हैं।

(विवरण सुनानेवाले इन वृद्ध साधु को ईश्वर-कृपा से साधुराज के अन्तिम दिनों तक अर्थात् करीब २५ वर्षों तक उनका पुनीत संग प्राप्त हुआ था। १९४७ ई. में भारतीय स्वाधीनता के कुछ दिनों बाद ही उनका देहावसान हो गया।)

''साधुराज के पास एक डायरी थी। शास्त्र पढ़ाते समय, साधना के रहस्यों की व्याख्या करते हुए अथवा किसी पुराने अनुभव या घटना का उल्लेख करते हुए वे अपनी डायरी निकालते और प्रासंगिक विवरण को पढ़कर सुना देते। वह डायरी अंग्रेजों के काल के पीले मोटे कागज से बनी हुई थी और नारियल के सूखे पत्तों की भाँति जीर्ण हो गयी थी। वे उस डायरी को एक वस्त्र में लपेटते और बाँधकर रख देते।

''मुझे पता चला कि 'साधुराज' के पास श्रीरामकृष्ण की जीवनी तथा उपदेशों से सम्बन्धित साहित्य का एक बड़ा दुर्लभ संकलन है, जिसमें स्वामी विवेकानन्द के भी अनेक व्याख्यान-ग्रन्थ हैं। वर्णन करनेवाले ये संन्यासी साधुराज के माध्यम से क्रमश: श्रीरामकृष्ण की जीवनी, शिक्षाओं तथा आदर्शों से परिचित हुए और इसके साथ ही उन्हें साधना, धर्म तथा आध्यात्मिकता के विषय में स्पष्ट तथा व्यावहारिक धारणा की प्राप्त हुई। साधुराज को शास्त्रों के विषय में विशद तथा गहन ज्ञान था और ज्ञान की इस परिपूर्णता तथा शास्त्रों की समझ के कारण ही वे स्वामीजी के एक महान् प्रशंसक थे। एक सर्वत्यागी संन्यासी तथा एक निष्ठावान सच्चे साधक होने के कारण साधुराज श्रीरामकृष्ण के प्रशंसक तथा अनुरागी थे और उन्हें अपने अर्न्तहृदय में प्रतिष्ठित कर रखा था। अपनी कक्षाओं या व्याख्याओं के दौरान, विशेषकर जब वे स्वामीजी के किसी लेख या व्याख्यान का उल्लेख करते, तो वे अपनी आँखों-देखी एक घटना की याद करते; और विनय, कृतज्ञता तथा भावुकतापूर्वक स्वामीजी से साक्षात् मिले हुए होने के कारण धन्यता का अनुभव करते।

''उन संन्यासी ने बताया कि साधुराज की डायरी में इस घटना के विषय में दो विवरण लिपिबद्ध थे (सम्भवत: पहला विवरण १९वीं शताब्दी की अन्तिम दशाब्दी में लिखा गया था, जब साधुराज एक अस्थिर-चित्त के युवा साधक थे) – पहली तारीख के विवरण में एक विचित्र संन्यासी के विषय में लिखा हुआ था; और परवर्ती विवरण, कई वर्षों के बाद तब लिखा गया था, जब यह ज्ञात हुआ कि वे संन्यासी स्वामी विवेकानन्द थे। घटना इस प्रकार है –

''ओंकारेश्वर में नर्मदा-तट की बालुका-राशि। एक रात, कुछ स्थानीय साधु-सन्त अपना हल्का-फुल्का भोजन करने के बाद नर्मदा-तट पर एक धूनी जलाकर उसके चारों ओर बैठे हुए थे। उनमें दो-तीन भ्रमण करनेवाले साधु भी उपस्थित थे। वे लोग अग्नि की उष्णता का आनन्द लेते हुए हल्की आवाज में बातें कर रहे थे। उनमें से कुछ आँखें खोले हुए मौन बैठे थे, मानो वे लोग अपने हृदय में ईश्वर का ध्यान आरम्भ करने के पूर्व बाहर चारों ओर फैले आनन्दप्रद प्रशान्त परिवेश के साथ अपने चित्त को समायोजित कर रहे हों। कुछ अन्य अपनी आँखें बन्द किये ध्यानमग्न बैठे थे। धूनी के बिखरे हुए आलोक के अतिरिक्त आसपास या दूर से भी वहाँ कोई अन्य प्रकाश नहीं आ रहा था।

''उस धुँधले प्रकाश में सबका ध्यान उस दिशा की ओर आकृष्ट हुआ, जिधर से स्थिर चाल के साथ एक सुगठित शरीरवाले संन्यासी उन्हीं लोगों की ओर चले आ रहे थे। उन्होंने अपने शरीर को ऊपर से नीचे तक एक ही वस्त्र से आवृत्त कर रखा था; और वे अपने स्वयं के भौतिक अस्तित्व तथा बाह्य जगत् के विषय में उदासीन प्रतीत हो रहे थे। उन्हें देखकर ऐसा प्रतीत होता था मानो उनका चित्त उनकी अन्तरात्मा के ही गूढ़ जगत् में डूबा हुआ हो। युवा तेज से सम्पन्न उनके मुख-मण्डल पर शोभती अपलक दृष्टि किसी के भी चेहरे को देखने को उत्सुक न थी, अपितु धूनी पर टिकी हुई थी। धूनी के निकट आकर उन्होंने उसमें जल रही अग्नि को प्रणाम किया और पालथी मारकर बड़े शान से उसके सामने बैठ गये। अग्नि से दृष्टि हटाये बिना ही वे बोले, 'मैं भूखा हूँ। आप लोगों के पास मुझे खिलाने के लिये कुछ है क्या?' कुछ साधुओं ने, उनकी ओर से मानो यह सोचकर मुख फेर लिया कि कोई फक्कड़ अहंकारी उपद्रव करने आ पहुँचा है, अत: हमें तो अपने काम से काम रखना चाहिये। (हम अनुमान कर सकते हैं कि ये तामसिक स्वभाव के साधु थे, प्रमाद के कारण जिनके विचारों तथा कार्यों में भ्रान्तिपूर्ण दृष्टिकोण, त्रुटियुक्त विश्लेषण तथा गलत समझ का प्राबल्य रहता है। यहाँ गहन आध्यात्मिक तात्पर्यों से युक्त संन्यासी की सहज उदासीनता को इन साधुओं ने

भ्रान्तिवश अहंकार तथा दम्भ समझ लिया था।) परन्तु उनमें कुछ ऐसे भी साधु थे, जिन्होंने सम्मान तथा तथा विस्मय के साथ उनकी ओर देखा, तो भी वे मौन तथा अविचलित रहे। (सम्भवत: ये राजसिक स्वभाव के साधु थे, जिनमें महानता एवं सत्य के प्रति प्रशंसा तथा स्वीकृति का भाव तो होता है, परन्तु उनका अभिमानी स्वभाव उन्हें इस बात को खुले तौर पर स्वीकार करने से रोकता है। इस कारण वे मौन रहे।) बाकी बचे दो-तीन साधुओं के हृदय में सहज प्रेम तथा श्रद्धा का भाव उमड़ पड़ा और उन्हें ऐसा प्रतीत हुआ मानो कोई अपने ही भाव का विश्वस्त मित्र मिल गया हो, जिसके समक्ष वे दिल खोलकर बातें कर सकते हों। संन्यासी की उपस्थिति मात्र ही उन्हें प्रेरित करते हुए उनकी अन्तरात्मा तथा आदर्शों में विश्वास उत्पन्न कर रही थी; और उनके तपोमय हृदयों में आशा तथा आनन्द का संचार कर रही थी। इन लोगों ने श्रद्धापूर्वक मधुर प्रफुल्ल मुख के साथ, सिर हिलाते हुए पूरे मन-प्राण से उनका स्वागत किया। (हम अनुमान कर सकते हैं कि ये साधु उन दुर्लभ महात्माओं में थे, जिन्होंने अपने राजसिक तथा तामसिक स्वभाव पर विजय पा ली है और मानो वे अपनी 'अहंता' तथा 'ममता' का त्याग करके सात्त्विक भावों में प्रतिष्ठित हो गये हैं।) अस्तु।

''एक दुबले-पतले जटा-जूटधारी वैरागी साधु ने अपनी झोली में से एक रोटी निकालकर उनके सामने बढ़ा दिया। वह एक तरह की मीठी रोटी थी, जिसे ओंकारेश्वर मन्दिर के प्रबन्धकों द्वारा वहाँ आनेवाले साधुओं के बीच प्रतिदिन वितरण किया जाता था। संन्यासी ने अपने पहने हुए वस्त्र से अपने हाथ पोंछे और रोटी को ग्रहण करने के लिये दोनों हाथ बढ़ा दिये। रोटी को सिर से लगाने के बाद संन्यासी ने खाना शुरू कर दिया। खाते-खाते उन्होंने पूछा, 'क्या तुम्हारे पास पीने का पानी भी है?' वैरागी ने तत्काल अपना कमण्डलु आगे बढ़ा दिया और संन्यासी ने अपनी अंजलि में लेकर पानी पीया। संन्यासी का चेहरा एक दिव्य सन्तोष तथा आशीर्वाद के भाव से युक्त मुस्कुराहट से दमक रहा था। इस छोटी-सी सेवा का सौभाग्य पाकर वैरागी ने स्वयं को धन्य माना। संन्यासी उठे। वे कुछ कदम पीछे जाकर एक बड़ा-सा बोल्डर लुढ़काते हुए धूनी के पास ले आये और अपनी पीठ को उससे टिकाकर बैठ गये। चारों ओर नि:स्तब्धता छाई हुई थी। उनका श्रद्धोत्पादक मनमोहक व्यक्तित्व, उनका उदात्त अलौकिक मनोभाव और नर्मदा के तट की वह शान्त-शीतल रात – ये सारे तत्त्व मिलकर वहाँ एक दिव्य परिवेश की सृष्टि कर रहे थे। ऐसे ही करीब एक घण्टा बीत गया और तभी एक विचित्र दृश्य ने उस निस्तब्धता को भंग कर दिया।

''पचास से भी अधिक आयु का एक व्यक्ति लड़खड़ाते कदमों के साथ उसी ओर चला आ रहा था। वह व्यक्ति पूरी तौर से नंगा था और एक भिखारी के समान दीख पड़ता था। वह ठण्ड के कारण बुरी तरह काँप भी रहा था और जोर की आवाज में रो रहा था, मानो घोर पीड़ा से ग्रस्त हो। उसका गन्दा शरीर तथा उसकी धूल-भरी दाढ़ी उसके भिखारी होने की घोषणा कर रहे थे। वह सीधा पत्थर से टिककर बैठे हुए और महाराजा के समान दिख रहे संन्यासी के पास जा पहुँचा और चीत्कार करते हुए बोला, 'मैं पिछले दो दिनों से भूखा मर रहा हूँ, मुझे खाना दो।' वहाँ उपस्थित अधिकांश साधु चिढ़ गये; और यदि वे भव्य दिखनेवाले संन्यासी वहाँ न होते, तो शायद वे लोग उसे डाँटते-फटकारते हुए धक्के मारकर वहाँ से अपमानपूर्वक भगा देते।

''संन्यासी ने कठोर स्वर में कहा, 'यहाँ बैठकर अपने शरीर को थोड़ा गरमा लो।' यह आदेश सुनकर वह आश्चर्य-चकित तथा आश्वस्त हो गया। उसकी पूर्व की भावनाएँ शान्त हो गयीं और वह, पलकें झपकाता हुआ इस आशा के साथ आग के पास बैठ गया कि 'देखें, आगे क्या होता है?'

''इसके बाद संन्यासी वहाँ एकत्र साधुओं तथा ब्रह्मचारियों की ओर उन्मुख हुए और एक दृढ़ करुणापूर्ण वाणी में बोले, 'तुममें से कोई एक जाकर इसके लिये खाना ले आओ।' कुछ ने यह बात सुनकर भी अनसुनी कर दी, कुछ उत्सुकतापूर्वक तमाशा देखते रहे, परन्तु एक ने साहस जुटाकर कटु शब्दों में कहा, 'इस रात के समय यहाँ आसपास खाने को कुछ भी नहीं मिलेगा।' बाकी लोग निश्चल बैठे रहे। परन्तु जिन साधुराज की डायरी में यह घटना लिपिबद्ध बतायी जा रही थी, वे उच्च विद्या तथा विवेक से सम्पन्न थे। वे उठकर बोले, 'मैं प्रयत्न करता हूँ' – और वहाँ से चल दिये।

''एक निष्ठावान साधक तथा आध्यात्मिक विषयों के ज्ञाता होने के कारण ब्रह्मचारी साधुराज ने अपनी अन्तर्दृष्टि से समझ लिया था कि ये संन्यासी निश्चय ही ब्रह्मद्रष्टा हैं और वे उनके साथ एकान्त में मिलने की योजना भी बना रहे थे। साधुराज एक मन्दिर से संलग्न आश्रम में रहते थे। अपने कमरे में जाकर वे दो रोटियाँ, एक मिर्च तथा एक कप चाय ले आये। देखकर संन्यासी अत्यन्त प्रसन्न हुए और बोले, 'उसे दे दो' – और अश्रुपूर्ण नेत्रों से उस व्यक्ति को खाते हुए देखने लगे। भोजन हो जाने के बाद वह व्यक्ति उठ खड़ा हुआ और पुन: संन्यासी के पास जाकर हाथ जोड़कर कृतज्ञता व्यक्त करते हुए बोला, 'मुझे पहनने के लिये एक वस्त्र दीजिये।' इस पर संन्यासी तत्काल उठ खड़े हुए और उन्होंने अपना पहना हुआ एकमात्र गेरुआ वस्त्र निकालकर उस व्यक्ति के कन्धे पर रखते हुए सुदृढ़ स्वर में कहा, 'इसे अभी लपेट लो, परन्तु याद रखना, इसके बाद फिर कभी किसी साधु से अपनी भौतिक आवश्यकता की कोई भी चीज मत माँगना – उन लोगों के पास दूसरों को देने के लिये इस भौतिक जगत्

की कोई भी चीज नहीं होती।' उस व्यक्ति ने तत्काल प्रतिवाद करते हुए कहा, 'ऐसा मत कहिये।' वह उस दुर्लभ गेरुए वस्त्र को अपने सीने से लगाकर जोरों से पकड़े हुए आनन्द से उन्मत्त हो रहा था।

"वह अपनी रामकहानी बताने लगा, 'आज सुबह मैंने प्रतिज्ञा की थी कि मैं केवल ईश्वर तथा उन्हें देखनेवाले साधुओं को छोड़ अन्य किसी से ही भिक्षा नहीं माँगूँगा। मैं जन्म से ही भिखारी हूँ, परन्तु उन स्वार्थी संसारी लोगों से भीख माँगते-माँगते थक चुका हूँ, जिनके पास बहुत है, पर कुछ देना नहीं चाहते। तीन दिनों से मैं बीमार था और कल मैं भिक्षा के लिये नहीं जा सका। आज भोर से ही मुझे प्रचण्ड भूख तथा दुर्बलता का अनुभव हो रहा था। दिन निकलने पर मैं एक बड़ी दुकान में गया। दुकानदार ने अभी-अभी दुकान खोली थी और हाथ में झाड़ू लिये वह सफाई के कार्य में लगा हुआ था। मुझे इन्तजार करते देखकर उसने हाथ से इशारा करके वहाँ से चले जाने को कहा। परन्तु मैं हिला नहीं। उसका झाड़ना हो जाने के बाद मैंने बताया कि मैं बीमार हूँ और कल से मैंने कुछ खाया नहीं है। मैंने उससे अनुनय-विनय किया कि वह मुझे जरा-सा कुछ खाने को दे दे। इस पर वह नाराज होकर बोला, 'मैं तुमसे कितनी बार कहूँ – यहाँ से चले जाओ।' मैंने एक बार फिर अनुरोध किया, 'मुझे थोड़ा-सा कुछ दे दीजिये, सड़ा-गला खाना भी चलेगा।' इस पर वह भड़क उठा और मुझे गालियाँ बकते हुए उसने एक जग पानी उठाकर मेरे ऊपर फेंक दिया। मैं बोला, 'जब तक तुम मुझे कुछ दोगे नहीं, तब तक मैं यहाँ से नहीं जाऊँगा।' इस पर वह मेरे ऊपर पिल पड़ा – उसने मुझे धक्का देकर नीचे गिरा दिया, मेरा कपड़ा निकालकर मुझे नंगा कर दिया और वहाँ से भाग जाने को कहा। मैं बोला, 'मेरे कपड़े दे दो, तो मैं चला जाऊँगा।' उसने कहा कि यदि मैंने दुबारा कभी उसकी दुकान की ओर मुख किया, तो वह मेरी बुरी तरह पिटाई करेगा और उसने कपड़े वापस करने से इनकार कर दिया। दूसरा कोई चारा न देखकर मैं नंगा ही सड़क पर चल पड़ा और मैंने उसी समय संकल्प कर लिया – इन लोगों से माँगने की अपेक्षा मर जाना कहीं अधिक अच्छा होगा; यह सोचकर कि इस दुनिया में ईश्वर के सिवा मेरा दूसरा कोई भी नहीं है – मैं सीधा भगवान ओंकारेश्वर शिव के मन्दिर की ओर चल पड़ा। वहाँ पहुँचकर भी मुझे मन्दिर में प्रवेश करते समय भय लग रहा था। राह का भिखारी होने के कारण आज तक मैं कभी मन्दिर के अन्दर नहीं गया था। परन्तु जब मैंने देखा कि मन्दिर पूरी तौर से निर्जन है और उसमें कोई भी उपस्थित नहीं है, तो मैं साहस जुटाकर जीवन में पहली बार मन्दिर के भीतर जा पहुँचा। दुनिया से ठोकरों की पीड़ा और भगवान की शरण लेने का जो संकल्प मेरे मन में उठा था, उसी से मुझे मन्दिर में प्रवेश करने का साहस मिला था। मैं भगवान के पवित्र लिंग के सामने नत-मस्तक होकर गिर पड़ा और रोते हुए उन्हें अपने हृदय की वेदना बताने लगा। मन्दिर के भीतर एकाकी होने के कारण मुझे परम शान्ति तथा आनन्द का अनुभव हुआ। मैंने भगवान शिव से प्रार्थना की कि वे मुझे अपने चरणों में आश्रय प्रदान करें; और यदि मेरी नियत में भिखारी होकर ही रहना लिखा है, तो मुझे अब इस दुनिया से उठा लें। अन्य किसी के प्रवेश करने के पहले ही मैं वहाँ से निकल आना चाहता था। अतः मैं शीघ्रतापूर्वक बाहर आ गया। रात हो जाने तक मैं मन्दिर के पास ही एक वृक्ष के नीचे अकेले बैठा रहा। मैंने सोचा कि शिवजी स्वयं ही किसी-न-किसी रूप में आकर मुझे भोजन तथा वस्त्र प्रदान करेंगे। मैंने साधुओं के मुख से ऐसा सुन भी रखा था। मुझसे भूख तथा ठण्ड सहन नहीं हो रहा था। अतः मैंने सोचा कि देखूँ – क्या साधु लोग मुझे अपनी मण्डली में सम्मिलित कर लेंगे? यदि ऐसा हुआ, तो मैं जीवन भर उन्हीं की सेवा करूँगा। अतः इधर जलती हुई धूनी तथा साधुओं की मण्डली देखकर मैं यहाँ चला आया। अब आप ही बताइये कि मैं किससे माँगूँ और कहाँ जाऊँ? मैं राह का भिखारी होकर भी साधुओं का संग पसन्द करता था, लेकिन उन लोगों ने मेरी उपेक्षा की। परन्तु मैं जानता था कि शिवजी मुझे और मेरी प्रार्थनाओं को ठुकरा नहीं सकेंगे।'

"इसके बाद उस गेरुए कपड़े को अपने सिर पर रखकर उसने बड़े राहत की साँस ली और अति कोमल स्वर में बोला, 'मेरी हृदय में जो आकांक्षा थी, वह मुझे प्राप्त हो गयी है।'

"संन्यासी चुपचाप गम्भीर मुद्रा में खड़े सब कुछ सुनते रहे। इस घटना को सुनते समय उनके नेत्रों से निरन्तर अश्रु-प्रवाह हो रहा था। उन्होंने उच्च स्वर में तीन बार कहा, 'महादेव ! महादेव !!, महादेव !!' और जहाँ वे खड़े होकर सुन रहे थे, उसी स्थान पर बैठ गये। अगले ही क्षण उनका शरीर स्थिर हो गया, मानो वे गहन ध्यान या समाधि में डूब गये हों। उस व्यक्ति ने पवित्र गैरिक वस्त्र को अपने सिर पर लपेट लिया और उस ठण्डी रात में नंगे ही अकेले मन्दिर की ओर चल पड़ा। साधुओं ने एक-एक कर अपने शरीर को कम्बल से ढका और धूनी के आसपास ही सो गये।

"साधुराज ने देखा कि संन्यासी कमर में कौपीन मात्र पहने ठण्डी भूमि पर मूर्ति के समान स्थिर बैठे हुए हैं। वे बड़ी देर तक प्रतीक्षा करते रहे, परन्तु आखिरकार निद्रा ने उन्हें अभिभूत कर लिया। साधुराज ने बड़े विचारपूर्वक अपने कम्बल को संन्यासी के निकट रख दिया था, ताकि सोते समय वे उसका उपयोग कर सकें।

"सुबह मन्दिर के शंख-घण्टे बजने पर सभी साधुओं के

साथ साधुराज भी उठे। वे लोग यह देखकर अत्यन्त विस्मित रह गये कि संन्यासी अब भी अविचलित भाव से उसी मुद्रा में बैठे हुए हैं। वे सभी नर्मदा में स्नान करने गये। साधुराज ने सोचा, 'मैं स्नान के बाद मन्दिर में दर्शन करके शीघ्र लौट आऊँगा। मुझे उनसे मिलकर बातें करनी हैं। मैं उन्हें सुबह की चाय पिलाने अपने आश्रम में ले जाऊँगा।' ऐसा सोचते हुए वे नर्मदा की ओर चल पड़े। जल्दी-जल्दी स्नान-दर्शन आदि करके जब वे लगभग एक घण्टे बाद लौटे, तो उन्होंने देखा कि वहाँ केवल उनका कम्बल ही यथास्थान पड़ा हुआ है और संन्यासी जा चुके हैं। यह उनके लिये बड़ी शोकजनक घटना थी। उन्होंने हार्दिक खेद के साथ चारों ओर यथासम्भव संन्यासी की खोज की, पर उनकी चेष्टा निष्फल सिद्ध हुई। साधुराज ने भारी हृदय के साथ उस 'स्मृति-चिह्न' रूपी कम्बल को उठाया और अपने आश्रम की ओर लौट पड़े।

* * *

''कई वर्षों बाद साधुराज ने इसी घटना का उल्लेख करते हुए उन संन्यासी को विश्ववन्द्य स्वामी विवेकानन्द के रूप में पहचाना था। पश्चिमी जगत् की विजय-यात्रा के द्वारा स्वामीजी ने – वास्तविक धर्म, सच्ची आध्यात्मिकता तथा मानव-जाति की अखण्डता की प्रतिमूर्ति के रूप में प्रत्येक भारतीय – विशेषकर प्रत्येक हिन्दू के हृदय पर अधिकार कर लिया था। उनके चित्र, सन्देश तथा व्याख्यान समाचार-पत्रों के माध्यम से चारों ओर प्रसारित हो रहे थे। मैंने सुना कि विधाता की कृपा से उनका दर्शन पाने तथा इस महत्त्वपूर्ण घटना में सम्मिलित हो पाने के कारण साधुराज स्वयं को अत्यन्त सौभाग्यवान तथा धन्य महसूस करते थे।

* * *

''इस घटना को सुनने के बाद मेरे मन में स्वामीजी के जीवन तथा उद्देश्य के विषय में एक नयी समझ तथा चेतना विकसित हुई; और साथ ही एक अज्ञात दिव्य शक्ति का आभास भी मिला, जो आध्यात्मिक जगत्, इसके साधकों, उनके भावान्तरण तथा उसमें प्रवेश को नियमित करती है। परिव्राजक साधु-सन्तों को देखते-देखते, राह के इस भिखारी को परिपक्व दृष्टि मिली, उसके भीतर विवेक जाग्रत हुआ, उसे उच्च आध्यात्मिक अवस्था प्राप्त हुई और इन महान् आचार्य के सम्पर्क में आकर उसने ईश्वर-प्राप्ति हेतु त्याग का मार्ग अपना लिया। यह एक बड़ी अद्भुत घटना है, जो हमें यह स्वीकार करने को विवश कर देती है कि जगदम्बा नामक एक शक्ति ही हर जीव को परिचालित कर रही हैं।

''मैंने पूरी घटना को जैसा सुना, वैसा ही सत्य तथा प्रामाणिक मानकर स्वीकार कर लिया। इस वर्णन की प्रामाणिकता का सत्यापन करने की मुझे कोई आवश्यकता महसूस नहीं हुई, क्योंकि मेरे हृदय को स्वामीजी की उपस्थिति-बोध के भाव से उद्दीप्त कर देने के लिये इतना ही यथेष्ट था, जबकि वक्ता साधु मुझे वह डायरी दिखाने के लिये उत्सुक थे। सम्भव है कि उनकी स्वयं भी, अपने गुरुदेव के जीवन की अमूल्य घटनाओं के विवरण तथा अपने भविष्य के पथ-प्रदर्शन हेतु उनकी साधना के रहस्यों के विषय में जानने की जिज्ञासा रही हो। इस प्रसंग का लाभ उठाकर वे मुझे उस स्थान पर ले गये। वह एक मन्दिर से संलग्न एक विशाल परिसर था। उन्हें आशा थी कि वे उस डायरी आदि को प्राप्त कर सकेंगे और मुझे दिखा भी सकेंगे। परन्तु जब हम वहाँ पहुँचे, तो वहाँ बिलकुल भिन्न ही दृश्य देखने को मिला। किसी ने भी हमारी जिज्ञासा पर ध्यान नहीं दिया। वहाँ केवल दो ही ऐसे वृद्ध साधु मिले, जो साधुराज के नाम से परिचित-से लगे। वहाँ एक या दो गृहस्थ कर्मचारी ऐसे मिले, जिनकी बातों से आभास हुआ कि वे शायद डायरी के विषय में जानते हैं, परन्तु उसे दिखाने को अनिच्छुक हैं। वे लोग इस प्रसंग को टालने की चेष्टा कर रहे थे। या तो वे आलस्य तथा प्रमाद के कारण उन्हें दिखाने के इच्छुक न थे, अथवा वे उस डायरी की सुरक्षा के प्रति चिन्तित थे।

''अगले दिन मैं होशंगाबाद लौट आया और उसके बाद फिर कभी मुझे ओंकारेश्वर जाने का अवसर नहीं मिला।''*

❑❑❑

* रामकृष्ण मिशन आश्रम, सेलम (तमिलनाडु) के प्रमुख स्वामी यतात्मानन्दजी के सौजन्य से प्राप्त

श्रीरामकृष्ण के उपदेश

धोबी दूसरों के मैले कपड़ों से अपना भण्डार भरता है, उन कपड़ों के स्वच्छ होते ही उसका भण्डार खाली हो जाता है। धोबी की तरह दूसरों के दोष-दुर्गुण और कुविचारों के द्वारा अपना भण्डार मत भरो।

माँगने से आदमी छोटा हो जाता है। भगवान से बढ़कर कोई नहीं है, परन्तु वे भी जब बलिराज के यहाँ भिक्षा माँगने गए तो उन्हें भी वामन का बौना रूप धारण करना पड़ा। किसी के पास कुछ माँगना हो तो ओछा बनना पड़ता है।

शान्तिपूर्ण जीवन बिताना हो तो लोगों की निन्दा-स्तुति दोनों के बारे में समान रूप से उदासीन रहो।

मानव-वाटिका के सुरभित पुष्प

डॉ. शरद् चन्द्र पेंढारकर

१८८. अपना भविष्य निज हाथों में

एक बार लाल बहादुर शास्त्री के एक मित्र ने उनसे कहा, ''हर नेता के बेटे तथा सगे-सम्बन्धी उच्च पदों पर आसीन हैं। एकमात्र आप ही अपवाद हैं कि प्रधानमंत्री होते हुए भी आपने अपने बेटों के भविष्य का ख्याल न करके उन्हें उनके भाग्य पर छोड़ दिया है।'' शास्त्रीजी हँसते हुए बोले, ''आप ठीक कहते हैं। मैं कुछ बातों में दूसरों से भिन्न अवश्य हूँ। मेरे कुछ अपने आदर्श हैं, जिनका पालन करने या जिनके अनुसार चलने में मैं आगा-पीछा नहीं सोचता। आपने मेरे बेटों के भविष्य का जिक्र किया। इस मामले में मैं स्वावलम्बन को महत्त्व देता हूँ। यदि व्यक्ति में योग्यता, दृढ़ संकल्प तथा निष्ठा हो, तो वह अपनी क्षमता के बल पर खुद ही अपना भविष्य गढ़ सकता है। फूलों का उदाहरण हमारे सामने है। फूल घर-आंगन में और सड़क के किनारे – कहीं भी खिलते हैं। जंगल में उन्हें उपजाऊ मिट्टी, खाद आदि पोषक तत्त्व न मिले, तो भी वे वहाँ वही सुगन्ध बिखरते हैं, जो अन्यत्र खिलने वाले फूल बिखरते हैं। व्यक्ति भी अपना विकास स्वयं कर सकता है। जिसमें आत्म-विश्वास और अदम्य कर्त्तव्य-भावना हो, वह अपना उत्कर्ष स्वयं करता है।'' मित्र ने सुना, तो उसे कोई जवाब देते न बना।

आगे बढ़ना और अपनी उन्नति करना मनुष्य का स्वाभाविक गुण है। स्वावलम्बन व्यक्ति की अनुपम निधि है। जो व्यक्ति पुरुषार्थ तथा आत्मबल पर विश्वास रखता है, उसे किसी की बैसाखी की आवश्यकता नहीं होती।

१८९. सब हैं परमेश्वर के बच्चे

संत गाडगे महाराज ने जब देखा कि गाँव में अभी भी लोगों में छुआछूत की भावना बढ़ती जा रही है, तो एक दिन उन्होंने मन्दिर में कीर्तन का आयोजन किया। लोगों के एकत्र हो जाने पर उन्होंने प्रश्न किया, ''इस संसार में सूर्य कितने हैं?'' लोगों ने उत्तर दिया – 'एक'। उन्होंने दूसरा प्रश्न पूछा, ''और चन्द्रमा?'' संयुक्त स्वर में जवाब मिला, ''वह भी एक ही है।'' उन्होंने आगे प्रश्न किया, ''तो फिर जातियाँ कैसे एक से ज्यादा हुईं?'' सबके मौन रह जाने पर वे बोले, ''जब कोई तुम्हारा परिचय पूछता है, तो अपनी-अपनी जाति क्यों बताते हो? खुद को मनुष्य क्यों नहीं बताते? अच्छा बताओ, तुम्हारी क्या जाति हैं?'' लोग बोले, ''हम मनुष्य हैं।'' – ''ठीक है, अब बोलो, 'देवकीनन्दन गोपाला'।''

उन्होंने फिर पूछा, ''अच्छा बताओ, हम किसके बच्चे हैं?'' लोगों ने उत्तर दिया, ''भगवान के।'' – ''जब हम एक ही भगवान के बच्चे हैं, तो हममें छूआछूत और पवित्रता -अपवित्रता की भावना कैसे आ गई? जाति-जाति में भेदभाव और छुआछूत की कुप्रथा से देश की दुर्गति हो रही है। ऊँच-नीच, छोटा-बड़ा यह सब थोथा है। सबको अपना मानकर भेदभाव न करते हुए सबके साथ भाईचारे के साथ पेश आना ही मनुष्यता है। इसी में सबको सच्चा सुख मिलेगा।''

१९०. सन्त हि शाहंशाह जगत् में

१७३८ ई. में सन्त चरनदास ने भविष्यवाणी की कि नादिरशाह काबुल जीतने के बाद भारत पर आक्रमण करेगा; शाहंशाह मुहम्मद शाह से उसकी करनाल के मैदान में मुठभेड़ होगी, जिसमें बादशाह कैद कर लिया जाएगा। युद्ध में हुसैन और ओबेदुल्ला – दो सेनापति मारे जायेंगे। मुहम्मद शाह को जासूसों के जरिए जब यह भविष्यवाणी ज्ञात हुई, तो पहले वह घबरा गया, पर बाद में उसने इसे मनगढ़न्त माना। उसने डोली भेजकर चरनदास को बुला भेजा, पर सन्त ने डोली वापस भेजते हुए सैनिकों से कहा, ''जो हरि के रंग में रँगा है, उसको बादशाह से क्या काम? चरनदास भगवान के अलावा किसी दूसरे के सामने सिर नहीं झुकाता।''

बादशाह यह सुनकर चिढ़ गया और बोला, ''एक फकीर को इतना अहंकार, इतनी हिम्मत कि मेरे हुक्म की तामील नहीं करता। उसने फिर डोली भेजी, लेकिन इस बार भी डोली वापस भेजकर सन्त स्वयं ही पैदल चलकर बादशाह के पास पहुँच गये। बादशाह ने उन्हें देखते ही डाँटते हुए पूछा, ''क्या आप जानते हैं कि बादशाह के हुक्म को न माननेवाले का क्या हश्र होता है?'' सन्त ने उत्तर दिया –

कूकरा से अड़ियो नहीं, सीख हमारी मान।
करामात तो कहर है, नहिं देखे अज्ञान।।

बादशाह क्रोधित हो बोला, ''ढोंगी, मुझे तेरी नसीहत नहीं चाहिए। तेरी जो करामात है, वह तो बाद में होगी, पर यह बता कि क्या तू अपराध नहीं कर रहा है?'' बादशाह ने ज्योंही ये शब्द कहे, उसके ताज का पंख उड़कर देखते-ही-देखते ओझल हो गया। बादशाह ने सन्त के पैरों मैं बेड़ियाँ डलवाकर उसे कैद में डालने का आदेश दिया।

दूसरे दिन जब बादशाह जेल का निरीक्षण करने गया, तो उसे वह कमरा खाली मिला। वह जान गया कि ये पहुँचे हुए सन्त हैं। वह तुरन्त उनके डेरे पर गया और माफी माँगी।

माँ सारदामणि के चरणों में

स्वामी निर्लेपानन्द

(माँ श्री सारदा देवी दैवी-मातृत्व की जीवन्त विग्रह थीं। उनके अनेक शिष्यों तथा भक्तों ने उनकी मधुर-पावन स्मृतियाँ लिपिबद्ध कर रखी हैं। बँगला ग्रन्थ 'श्रीश्री मायेर पदप्रान्ते' से इस लेख का अनुवाद किया है इलाहाबाद की श्रीमती मधूलिका श्रीवास्तव ने। – सं.)

(पिछले अंक से आगे)

१९१६ – आज भी वह चित्र मन में ताजा बना हुआ है। उद्बोधन में श्रीठाकुर की संध्या-आरती समाप्त हो गयी है। माँ की दो दक्षिण भारतीय चिरकुमारी शिष्याएँ। कनक और शिवा – दोनों बहनें माँ को स्तव सुना रही हैं –

शिवाकान्त शम्भो शशांकार्धमौले
महेशान शूलिन् जटाजूटधारिन्।
त्वमेको जगद्-व्यापको विश्वरूपः
प्रसीद प्रसीद प्रभो पूर्णरूप ।।४।।

– हे उमापति, हे शम्भु, हे अर्धचन्द्रमौलि, हे महेश्वर, हे शूली, हे जटाजूटधारी, तुम्हीं एकमात्र जगद्व्यापी व विश्वरूप हो, हे पूर्णरूप, हे प्रभो, तुम प्रसन्न होओ।

परात्मानमेकं जगद्-बीजमाद्यं
निरीहं निराकारमोंकार-वेद्यम्
यतो जायते पाल्यते येन विश्वं
तमीशं भजे लीयते यत्र विश्वम् ।।५।।

– जो परमात्मा हैं, अद्वितीय हैं, जगत् के आदि बीज हैं, निष्क्रिय, निराकार तथा ॐकार द्वारा ज्ञातव्य हैं; जिनके द्वारा जगत् उत्पन्न होता है, पालित होता है और जिनमें विलीन होता है; मैं उन ईश्वर का भजन करता हूँ।

न भूमिर्न चापो न वह्निर्न वायु-
र्न चाकाशमास्ते न तन्द्रा न निद्रा।
न ग्रीष्मो न शीतं न देशो न वेशो
न यस्यास्ति मूर्तिस्त्रिमूर्तिं तमीड़े ।।६।। (वेदसार-शिवस्तोत्र)

– जो न भूमि हैं, न जल हैं, न अग्नि हैं, न वायु हैं, न गगन हैं, न तन्द्रा हैं, न निद्रा हैं, न ग्रीष्म हैं, न शीत हैं, न स्थान हैं, न घर हैं और जिनकी कोई भी मूर्ति नहीं, मैं उन्हीं त्रिमूर्तिधारी की वन्दना करता हूँ।

माँ हाथ जोड़कर भावमग्न हैं। सुप्रसन्न हैं। चित्रलिखित के समान बैठी हैं। उनका स्वर मधुर और वाणी विशुद्ध है। नीचे के सारे कर्म-कोलाहल के बीच भी शरत् महाराज के कान ऊपर ही लगे हैं। मानो नाग का चित्त शब्द-ब्रह्म की ओर आकृष्ट हो। वे स्थिर हैं, निश्चल हैं। यो दोनों प्राय: ही निवेदिता स्कूल से आकर माँ के आदेश पर उन्हें स्तोत्र सुनाती हैं। हरि महाराज ने अपने सेवक से कहा था, "सनत (स्वामी प्रबोधानन्द), तुमने देह की सेवा की और ललित (स्वामी कमलेश्वरानन्द) ने अपने अशुद्ध उच्चारण के बावजूद समग्र 'भागवत' सुनाकर मेरे मन की सेवा की है।" यह भी क्या माँ के मन की किंचित् सेवा नहीं है? अवश्य ऐसा ही है। खुले नेत्रों के साथ ही माँ को भाव-समाधि लग गयी। मैं कितनी ही बार उद्बोधन के दुमजले-तिमंजले पर माँ को इसी रूप में देखकर मुग्ध हुआ हूँ, इसकी कोई गिनती नहीं – असंख्य बार।

१९१६ ई. की एक अन्य छोटी-सी घटना है। पतले सँकरे निचली मंजिल में पश्चिम की ओर के तिरछी दीवार से घिरे बरामदे में सुबह के समय माँ के घर का आश्रित मैं अनाथ बालक आलू-भात, गरम-गरम दाल और साथ में कुछ तला हुआ जल्दी-जल्दी खाकर स्कूल जाने के लिए तैयार हो रहा था। बागबाजार से गोलदीघी तक तीन मील पैदल जाना होगा। माँ तेल लगाकर, उस काल की बहुओं के समान गले तक घूंघट काढ़े, गोलाप-माँ को 'सास' की तरह साथ लिये पिछले दरवाजे से निकलकर पत्थरों से मढ़ी हुई लम्बी-लम्बी टेढ़ी-मेढ़ी सर्पीली गली को पार करते हुए सदर ट्रामी वाली सड़क के अन्त में स्थित घाट पर गंगा नहाने जा रही हैं। मुझसे स्नेहपूर्वक बोलीं, "बेटा खा रहे हो? तुम्हें इतनी दूर जाना होगा।" इन कुछ शब्दों में एक अनाथ-आश्रित बालक के प्रति यह कैसी सहानुभूति थी! मुझ मातृ-पितृ-हीन बालक का माँ के सिवा और कौन है?

पैरों में वात के कारण माँ को पैदल चलने में कष्ट होता था। शरत् महाराज ने गोलाप-माँ से कहा, "माँ की अनुमति हो, तो नित्य पालकी का प्रबन्ध करूँगा। माँ से पूछने पर माँ ने कहा, "नहीं गोलाप, अभी तो मैं एक दिन छोड़-छोड़कर जाती हूँ। माँ गंगा, महातीर्थ – इतनी पास हैं! इतनी दूर तो पैदल जाना ही अच्छा है।" माँ आसानी से कोई सुविधा स्वीकार नहीं करतीं थीं। इसके ऊपर अन्य किसी की बात नहीं चली।

मुझ अभागे के प्रति माँ की असीम करुणा थी। उन दिनों उद्बोधन से सीधे दक्षिण की ओर एक पुराना टूटा-फूटा

मकान था, उसमें रहती थी ब्राह्मण-परिवार की मातृहीन लड़की नन्द। पिता नशे में बेहोश पड़े रहते। नव कार्तिक के समान शरीर, नुकीली नाक, रक्तिम आभा लिए दुधिया रंग। वृद्ध पितामह मुहल्ले में सबसे बढ़े-चढ़े थे। नशे के कारण उनके नेत्र सर्वदा लाल रहते। छिन्न-भिन्न माँ-विहीन गृहस्थी। अनेक भाई-बहन। नन्द राधू की सहेली थी। एक साथ गुड़िया खेलना और आमोद-आह्लाद करना। गुड्डों-गुड़ियों का ब्याह होता। माँ मातृहीन नन्द से बड़ा स्नेह करती थीं। खूब अच्छी-अच्छी मिठाइयाँ, सन्देश, फल-मूल, प्रसाद अधिक मात्रा में देतीं, ताकि घर के सभी लोग खा सकें, सबको पूरा पड़े। सभी दीन-दुखियों के प्रति माँ की दृष्टि रहती – तीक्ष्ण दृष्टि, वे निर्धनों की दरदी थीं। किसी-किसी दिन मैं देखता कि राधू नन्द के घर जाकर खेलने में इतनी मग्न हो जाती कि किसी के बुलाने पर भी आना ही नहीं चाहती। बुआ का नाम लेकर बुलाने पर भी नहीं आती। माँ स्वयं ही पिछले दरवाजे से जाकर उनके घर से अधपगली राधू को खींचकर ले आतीं। नन्द माँ को 'नानी' कहती। बड़ा मधुर लगता।

करुणा-तन्तुओं से बना हुआ माँ का विशाल स्नेहजाल सम्पूर्ण विश्व को बाँधे हुए है। वे सभी को आकृष्ट करके आश्रय, अभय तथा भोजन देतीं। उद्‌बोधन-भवन के पूर्व की ओर लगी हुई पड़ोसी मछुआरिन अमूल्य की माँ के प्रति भी माँ की करुणा-दृष्टि थी। उसके घर में गाय थी। दूध बेचकर थोड़ी आय होती थी। माँ की विराट् रसोई से निकले हुए शाक-सब्जियों के छिलकों का ढेर गाय के भोजन के रूप में अमूल्य की माँ को मिल जाता। वह उसी के लिए निर्धारित रहता। पुराने अखबार के बण्डल भी वही पाती। उनसे ठोंगे (लिफाफे) बनाकर भी विधवा को कुछ आय हो जाती। जिसका जो प्राप्य होता, उसे अकुण्ठित भाव से उसे दे देना – यही माँ की शिक्षा है। किसी भी वस्तु का अपव्यय नहीं होता। सारी व्यवस्था त्रुटिहीन होती। कहीं कोई त्रुटि नहीं रहती। जिनका मन एकाग्रता की चरम सीमा पर हो, उनका बाहरी व्यवहार भी सुशृंखलाबद्ध होता है। जरा भी अव्यवस्था नहीं। अधिकांश समय समाधिस्थ रहना ही श्रीरामकृष्ण की स्वाभाविक अवस्था थी, तथापि उनके लोक-व्यवहार में सर्वदा ही नियमानुसार स्वच्छता दिखाई पड़ती और वे सभी के प्रति अपने कर्तव्य-पालन में तत्पर रहते।

माँ गोविन्द का कितना स्नेह-यत्न करतीं ! माँ के उद्‌बोधन में रहते समय गोविन्द एक बार माँ के गाँव से आया। उस समय वह कौपीनधारी ब्रह्मचारी था। परवर्ती काल में वह स्वामी तत्त्वानन्द हुआ। उसे देखकर माँ बड़ी खुश हुईं और गोलाप-माँ से बोलीं, "अजी, यह लड़का कितनी ही साग-सब्जियाँ सिर पर रखकर जयरामबाटी ले जाता है। इसे अच्छी तरह खिलाओ।" शरत् महाराज माँ के गाँव के साधुओं का बड़ा यत्न करते थे। उन लोगों के अपढ़ होने पर भी, उनकी माँ के प्रति अगाध भक्ति थी – वे माँ के अन्तरंग जो ठहरे ! कुछ वर्ष बाद अस्पताल में भयंकर चेचक रोग से कलकत्ते में गोविन्द का देहान्त हुआ। उन्हें माँ से मंत्रदीक्षा और शरत् महाराज से संन्यास मिला था। अन्तिम विवरण सुनकर शरत् महाराज ने कहा, "माँ अन्त समय तक उसके साथ थीं।" यह जून १९२७ ई. की घटना है।

१९१६ ई.। जैसे पुरानी कथाओं में सोने की लकड़ी छुलाने से सब कुछ जाग उठता है, उसी प्रकार उद्‌बोधन के छोटे भवन में कुछ और निर्माण कार्य हुआ है। उसी वर्ष जयरामबाटी में माँ को स्वयं का कच्चा मकान बना। माँ की कितनी तरफ दृष्टि थी ! कितनी सावधानी थी ! परन्तु स्वयं की सुख-सुविधा के प्रति बेपरवाह !

जब जयरामबाटी में उनके लिये अलग मकान बनाने की बात चल रही थी (भाइयों के प्रति कितनी कृपा ! पक्का मकान बनवाने से जमींदार रुष्ट हो जायेगा, जिससे भाइयों के गाँव में बहू-बेटियों को लेकर रहना दुष्कर होगा।) इसलिये प्रारम्भ में उन्होंने अत्यन्त स्वाभाविक रूप से कहा, "मेरे लिये कुछ अलग क्या होगा?" स्वयं को इस प्रकार सदा के लिए मिटा डालते – क्या मैं अन्य किसी को इस जगत् में देख सकूँगा?

इसी वर्ष की जुलाई में माँ गाँव से अपनी टोली के साथ कलकत्ते आयीं। आ गयीं, आ गयीं – के कलरव से चारों दिशाएँ गूंज उठीं। दुमंजले के बरामदे में पतले चिक के परदे झूलने लगे। रामकृष्ण-वचनामृत में है – माँ चिक की आड़ में रहती हैं। माँ सबको देख सकती हैं, पर कोई माँ को नहीं देख सकता। दक्षिणेश्वर में नौबतखाने के अत्यन्त छोटे कमरे में १८ वर्ष की सारदा देवी चटाई के परदे के पीछे रहतीं। चारों ओर से ढकी हुई। पिंजराबद्ध सिंहिनी। वे ही माँ अब ६२ वर्ष की हैं, शरीर रुग्ण है। गाँव के मलेरिया ने उनकी देह को घुन की भाँति पकड़ लिया है। वात के भीषण कष्ट के कारण पैर घसीटकर चलना पड़ता है। तो भी उन्होंने अपने पहले का आचरण बनाये रखा है। दक्षिणेश्वर और कलकत्ते में वे बहू-माँ हैं, सदा बहू-माँ ही बनी रहेंगी। सत् जनों की एक ही बात होती है। इस आयु में भी पूरा-पूरा पर्दा। बुढ़ापे में भी पति की सिखायी हुई बात का पालन कर रही हैं। यथावत् किये जा रही हैं। अभिनय के समान चल-फिर रही हैं; जहाँ जैसा, वहाँ वैसा। देवतुल्य पति के आदेश पर चलना – पतिव्रता। लेकिन जयरामबाटी की मिट्टी में देवी की भिन्न मूर्ति होती है। मानो पिंजरे से मुक्त पंछी – "Freedom is the song of the soul" – मुक्ति ही मानवात्मा का संगीत है। यह स्वामीजी की उक्ति है। ❖ **(क्रमशः)** ❖

स्वामी प्रेमानन्द के संग में (६)

(बाबूराम महाराज के नाम से सुपरिचित स्वामी प्रेमानन्दजी श्रीरामकृष्ण देव के एक प्रमुख शिष्य थे। वे बेलूड़ मठ के सर्वप्रथम व्यवस्थापक थे। मठ के मन्दिर में वे पूजा भी किया करते थे। स्वामी ओंकारेश्वरानन्द ने बँगला भाषा में हुए उनके अनेक वार्तालापों को लिपिबद्ध कर लिया तथा ग्रन्थ के रूप में प्रकाशित कराया था। वहीं से इनका हिन्दी अनुवाद प्रस्तुत किया जा रहा है। – सं.)

५. श्रीरामकृष्ण सभी सम्प्रदायों के आदर्श

आज शुक्रवार, २४ दिसम्बर १९१५ ई. का दिन है। मठ में पूर्व की ओर के नीचे के बरामदे में पूजनीय बाबूराम महाराज बड़े बेंच पर और अन्य कई साधु-ब्रह्मचारी तथा भक्त उनके सामने तथा बगल में छोटे बेंच पर आसीन हैं। अपराह्न के तीन बजे का समय है।

बाबूराम महाराज – "ठाकुर के पास साकारवादी, निराकारवादी, वैष्णव, शाक्त और ब्रह्मवादी – सभी सम्प्रदायों के धर्मपिपासु आया करते थे। वे किसी के भी भाव नष्ट नहीं करते थे। जो जिस भाव का साधक होता, जैसा अधिकारी होता, वे उसे उसी के भाव का पथ दिखा देते।

"ठाकुर कहा करते थे कि एकमात्र स्वामीजी ही ज्ञान के अधिकारी हैं। उन्होंने अपने जीवन में अद्वैतभाव को छिपाकर भक्ति का ही प्रचार किया है। दूसरी ओर स्वामीजी ने भक्ति को छिपाकर अद्वैतभाव का प्रचार किया है। परन्तु स्वामीजी के समान भक्तिमान व्यक्ति कितने हैं?

स्वामी विवेकानन्द की भक्ति

"ठाकुर के तिरोभाव के बाद कई लोग तपस्या करने को वृन्दावन चले गये। तब मठ वराहनगर में था। वृन्दावन से लौटकर सबमें वैष्णव भाव आ गया था। यह देखकर एक दिन स्वामीजी ने कहा, 'वृन्दावन से तुम लोग जो मिट्टी लाये थे, उससे मुझे वैष्णव सजा दो।' यह कहकर उन्होंने अपने सर्वांग में छाप, नाक के ऊपर तिलक आदि लगा लिया और बोले, 'दे, माला की झोली !' फिर वे माले की झोली लेकर विनोदपूर्वक आँखें मूँदकर जप करने लगे, 'निताई ठक् ठक्, निताई ठक् ठक्।' सब हँसते-हँसते लोटपोट हो गये। थोड़ी देर बाद उन्होंने माले की झोली रख दी और बोले, 'ढोल ले आ, अब कीर्तन होगा।' ये सारी बातें उन्होंने वैष्णवी दीनता के साथ कही थी। ढोल आदि आ जाने पर वे बोले, 'मैं गाता हूँ, तुम लोग भी गाओ।' इतना कहकर उन्होंने गाना शुरू किया (भावार्थ) – 'निताई नाम लाया है रे, नाम लाया है रे, नाम लाया है रे।' हम सभी ने गाया। उस पंक्ति के कई बार गाये जाने के बाद हम लोगों ने देखा कि स्वामीजी के दोनों नेत्रों से अश्रुधारा बह रही है। कहीं रास्ते के लोग न आ जायँ, इस कारण दरवाजे में साँकल लगाकर खूब कीर्तन होने लगा। दोपहर के बारह बजे से शाम के चार-पाँच बजे तक इसी प्रकार चला। ऐसा कीर्तन मैं ठाकुर के काशीपुर के उद्यान में निवास करते समय देखा करता था और फिर उस दिन जमा था। उन दिनों मैं ठाकुर की पूजा किया करता था, मन्दिर का द्वार खोलने पर देखा कि बाहर बहुत-से लोग चुपचाप खड़े होकर कीर्तन सुन रहे हैं। मैंने उन लोगों से भीतर आ जाने को कहा। उन लोगों ने हाथ हिलाकर मना करते हुए कहा कि यहीं से अच्छी तरह सुनाई दे रहा है। नहीं तो, भीतर जाने से गड़बड़ हो जायगा।"

बड़े दिन के उपलक्ष्य में स्कूल, कॉलेज, दफ्तर आदि सभी बन्द हैं। बहुत-से नये तथा पुराने भक्तगण दक्षिणेश्वर में श्रीठाकुर के साधना-स्थल पंचवटी, बिल्वपृक्ष, भवतारिणी और श्रीराधाकृष्ण की युगलमूर्ति का दर्शन करने के बाद, कोई नाव में, तो कोई पैदल ही बेलुड़ मठ चले आ रहे हैं।

बाबूराम महाराज उच्च स्वर में 'हरिबोल, हरिबोल' कहते हुए आसन से उठकर सामने स्थित तटबन्ध की ओर गये।

अपराह्न के चार बजे हैं। मन्दिर के पट खुल गये हैं। भक्तों में से कोई-कोई मन्दिर में और कोई स्वामीजी के समाधि-मन्दिर की ओर चले गये। कोई-कोई कलकत्ते लौटने के लिए तटबन्ध पर खड़े होकर लौटते हुए नावों के माझियों को पुकार रहे हैं, "लगाओ, लगाओ।"

भगवत्प्राप्ति ही जीवन का उद्देश्य

मठ भवन के दक्षिण की ओर के चबूतरे पर बैठकर बाबूराम महाराज कुछ युवा भक्तों तथा ब्रह्मचारियों से कह रहे हैं, "दक्षिणेश्वर में ठाकुर के कमरे में चटाई के ऊपर सो रहा था। आधी रात को एक बजे सहसा नींद खुल गयी। मैंने उठकर देखा कि ठाकुर कमरे में चारों ओर थू-थू करते हुए घूम रहे हैं और कह रहे हैं, 'मत देना माँ, मत देना माँ।' माँ मानो उन्हें टोकरी भर-भरकर मान-यश देने आयी हैं। इसीलिए ठाकुर कह रहे थे, 'मत देना माँ, मत देना माँ।'

"मान-यश और लोकमान्यता का त्याग करना होगा। वह सब पचा पाना क्या आसान बात है? स्वामीजी पचा सकते थे। भगवान की प्राप्ति के लिए नाम-यश को थू-थू करके थूक देना होगा। ईश्वर की प्राप्ति ही मानव-जीवन का उद्देश्य है।

"तुम लोग उन्हें प्राप्त करने को पूरी तौर से डूब जाओ, मग्न हो जाओ, उनके साथ एकाकार हो जाओ – 'रे मन, तू काली कहते हुए हृदय-रत्नाकर में डुबकी लगा। यदि दो-चार

डुबकियाँ लगाने पर तुझे रत्नों की प्राप्ति न हो, तो भी रत्नाकर को रत्नहीन मत समझ बैठना।' थोड़ा-बहुत जप-ध्यान करने के बाद भी आनन्द की प्राप्ति न होने पर भी उसे छोड़ नहीं देना चाहिए। उन्हें प्राप्त न कर पाने पर केवल तकलीफें ही हैं – दु:ख-कष्टों का भोग है। पूरी तौर से तन्मय हुए बिना, भगवत्प्रेम में पागल हुए बिना रत्न की प्राप्ति नहीं होती।

''उन्हें प्राप्त करने के लिए जिद चाहिए – बुलडाग के समान दृढ़ता चाहिए। पागल कुत्ते जैसा होना होगा। ऐसा हठ चाहिए, व्याकुलता चाहिए कि इसी जीवन में ईश्वर की प्राप्ति करूँगा – **इहासने शुष्यतु मे शरीरम्**। चाहे जैसे भी हो, जिस पथ से भी हो, उन्हें पाना ही होगा। वे ही हमारे 'अपने' हैं। आम खाने को आये हो, तो आम खाकर चले जाओ। कहीं पत्तियाँ गिनने में ही सारी शक्ति खर्च न हो जाय। भोग-वासना के द्वारा क्या आत्मा की तृप्ति होती है? वासना कालसर्प है। अन्त में विष की आग से छटपटाना पड़ता है। विषय-वासना विष से भी अधिक विषमय है। साँप का विष तो केवल शरीर को ही पीड़ित करता है, परन्तु विषय मन को भी दग्ध करता है। भोग में रोग तथा मृत्यु का भय है और त्याग में शान्ति है, अमृत है।

भोगे रोगभयं कुले च्युतिभयं वित्ते नृपालाद्भयम्।
माने दैन्यभयं बले रिपुभयं रूपे जरायाभयम्।।
शास्त्रे वादिभयं गुणे खलभयं काये कृतान्ताद्भयम्।
सर्वं वस्तु भयान्वितं भुवि नृणां वैराग्यमेवाभयम्।।

– भोग में रोग का भय है, सत्कुल के गौरव में पतन का भय है, सम्पति रहने पर शत्रु राजाओं का भय रहता है, मान-सम्मान में अपमान का, बल में शत्रु का भय, रूप में वृद्धावस्था का भय, शास्त्रज्ञान में पराजय का भय, सद्गुण होने पर दुष्टों का भय और देहधारण में यम का भय है; अत: सच कहें तो पृथ्वी की सारी वस्तुएँ ही भय से युक्त हैं, परन्तु एकमात्र वैराग्य ही ऐसा है, जो निर्भयता प्रदान करता है।

इस त्याग-वैराग्य के समान क्या कोई दूसरी कोई वस्तु है? जागतिक ऐश्वर्य उसकी तुलना में तुच्छ है। परन्तु वह धन-ऐश्वर्य यदि प्रभु की सेवा में लगे, तभी उसकी सार्थकता है। ठाकुर के आश्रय में आकर, इन जीवन्त महापुरुषों का संग पाकर भी यदि तुम लोग अपना जीवन गढ़ नहीं सके, तो तुम्हें धिक्कार है। जब ठाकुर के दरबार में आ ही गये हो, जब उनके चरणों में सिर को रख ही दिया है, तो अपना जीवन सार्थक कर लो; भाव, भक्ति, प्रेम, विवेक, त्याग, वैराग्य – इन दिव्य अलंकारों से भूषित हो जाओ। राजपुत्र होकर भी क्या तुम भोग-वासना, नाम-यश-रूपी तुच्छ लौकी-कुम्हड़ों में ही भूले रहोगे? तुम लोग ठाकुर-माँ की सन्तान, ब्रह्ममयी के पुत्र हो; इस छोटी सी चुसनी को लेकर ही भूले रहना क्या तुम लोगों को शोभता है? 'रे यम के दूत, तू दूर हट जा। मैं ब्रह्ममयी की छटा का चिन्तन करके यम का यम हो सकता हूँ।' भाव, भक्ति, प्रेम, त्याग, वैराग्य आदि की बातें क्या पुस्तकों में ही धरी रह जायेंगी? क्या इन्हें जीवन में रूपायित नहीं किया जायगा? मैं जीवन देखना चाहता हूँ, जीवन – ज्वलन्त जीवन। तोते के समान रटने मात्र से काम नहीं चलेगा, भावरस में पूरी तौर से डूब जाओ, मतवाले हो जाओ, एकरूप हो जाओ, तभी तो महामाया के हाथ से मुक्ति मिलेगी! इतना कहकर वे सुर के साथ गाने लगे – (भावार्थ) –

ओ मेरे मन, तू रूप के समुद्र में
गोते लगा, गोते लगा, गोते लगा।।
तल, अतल और पाताल में खोज करने पर
ही तू प्रेमरूपी रत्न को पा सकेगा।।
डुबकी लगा, डुबकी लगा, डुबकी लगा,
डुबने से ही तुझे हृदय में वृन्दावन मिलेगा,
हृदय में प्रतिक्षण टिम-टिम-टिम
ज्ञान का दीपक जलता रहेगा।।
ऐसा भला कौन व्यक्ति है जो
जमीन के ऊपर डोंगी चलायेगा!
कुबीर कहते हैं – सुनो, सुनो, सुनो
श्रीगुरु के चरणों का चिन्तन करो।

संध्या हो गयी। बाबूराम महाराज ने पवित्र गंगाजी के जल में हाथ-मुख धोया और आचमन करने के बाद मन्दिर में प्रवेश किया। आरती, स्तव आदि हो जाने के बाद आये हुए भक्तों में से प्राय: सभी नावों में बैठकर कलकत्ते की ओर चल पड़े। कोई-कोई भक्त आज की रात मठ में ही बितायेंगे।

❖ (क्रमश:) ❖
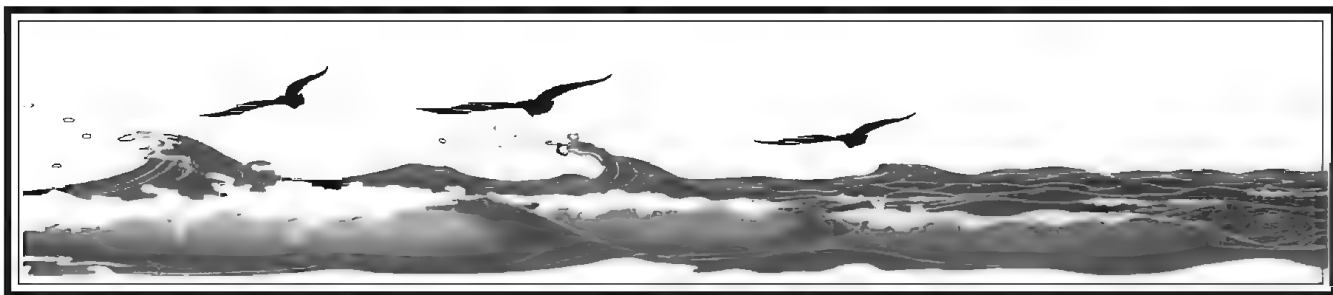
स्वामी आत्मानन्द (१)

स्वामी अब्जजानन्द

(स्वामी विवेकानन्द के अल्पावधि जीवन-काल में अनेक नर-नारी उनके घनिष्ठ सम्पर्क में आये। कुछ युवकों ने उन्हीं के चरणचिह्नों पर चलते हुए त्याग-संन्यास का जीवन भी अंगीकार किया था। प्रस्तुत है स्वामीजी के उन्हीं संन्यासी शिष्यों में से कुछ की जीवन-गाथा। बँगला भाषा से इसका हिन्दी अनुवाद किया है स्वामी विदेहात्मानन्द ने। अनुवाद में कहीं-कहीं अंग्रेजी संस्करण से भी सहायता ली गयी है। – सं.)

आचार्य स्वामी विवेकानन्द ने एक दिन अपने शिष्यों से पूछा, "ज्ञान, भक्ति, योग तथा कर्म – बोलो, कौन किसमें 'आनर्स' की डिग्री लेगा?" उनके पास बैठे शिष्यों में हलचल मच गयी। किसी ने ज्ञान चुना, तो किसी ने भक्ति तथा ज्ञान दोनों अर्थात् डबल 'आनर्स' चुना, तो किसी ने उत्साह में आकर ज्ञान, भक्ति तथा कर्म अर्थात् त्रिपल 'आनर्स' चुना। उस दिन स्वामीजी के चारों ओर बैठे हुए वैराग्यवान युवकों की टोली आनन्द तथा उत्साह में उन्मत्त हो उठी थी। प्रसन्न गुरु के समक्ष सभी शिष्य बोल रहे थे, परन्तु केवल एक ही सबके पीछे मौन बैठा था। वह युवक स्वभाव से ही अल्पभाषी था। उनकी ओर से कोई दूसरा कुछ बोलने जा रहा था, तभी स्वयं स्वामीजी कह उठे, "उसके भीतर ज्ञान, योग, भक्ति, कर्म – सभी भाव हैं – वह सबमें (आनर्स) है।"

घटना में कथित युवक के परवर्ती जीवन पर दृष्टिपात करने पर तत्काल समझ में आ जाता है कि द्रष्टा आचार्य का उस दिन का वाक्य अक्षरश: सत्य था। युगप्रवर्तक स्वामीजी के योग-समन्वय का आदर्श उनके इन शिष्य के जीवन में मानो यथार्थ रूप से मूर्तिमान हो उठा था। शान्त-स्वभाव तथा अल्पभाषी ये युवक ही आगे चलकर रामकृष्ण संघ के आदरणीय संन्यासी स्वामी आत्मानन्द हुए, जिनके विषय में स्वयं संघाध्यक्ष स्वामी ब्रह्मानन्दजी ने एक बार अपने एक शिष्य से कहा था, "आत्मानन्द के समान महापुरुष की सेवा तथा संग प्राप्त करना बड़े सौभाग्य से होता है।" अत: इन त्याग, तितिक्षा एवं वैराग्य के ज्वलन्त दृष्टान्त-स्वरूप आदर्श संन्यासी के जीवन का स्मरण करना विशेष हितकर है।

स्वामी आत्मानन्द ने जिस वंश में जन्म लिया था, उसका आदि-निवास बिहार के पूर्णिया जिले में स्थित था। उनके दादा युगल किशोर शुकुल किसी कार्य के निमित्त उत्तरी बंगाल के मालदा जिले में आकर निवास करते थे। बिहार तथा उत्तरप्रदेश के ब्राह्मणों में 'शुक्ल' पदवी आम है, ऐसा लगता है कि यह 'शुकुल' इस 'शुक्ल' शब्द का ही अपभ्रंश है। युगल किशोर के दो पुत्र थे – गुरुप्रसाद तथा दुर्गाप्रसाद। दुर्गाप्रसाद के बड़े पुत्र गोविन्द प्रसाद ही परवर्ती काल में स्वामी आत्मानन्द नाम से सुपरिचित हुए। मालदा जिले के देवीपुर गाँव में दुर्गाप्रसाद ने स्थायी भवन का निर्माण कराया और वहीं पर गोविन्द प्रसाद का जन्म हुआ। उनकी जन्मतिथि के विषय में निश्चित रूप से कुछ भी ज्ञात नहीं है। उन्होंने स्वयं भी कभी किसी को इस विषय में नहीं बताया। संन्यासी -सुलभ उदासीन मनोभाव ही उनका जन्मजात स्वभाव था, अत: किसी को उनके स्वयं के बारे में कुछ पूछने का साहस नहीं हुआ। तथापि उनके बचपन के सहपाठी मित्रों को देखते हुए उनकी आयु का भी मोटे तौर पर अनुमान किया जा सकता है। शुद्धानन्द, विरजानन्द, विमलानन्द, प्रकाशानन्द तथा बोधानन्द – स्वामीजी के ये कुछ विशेष शिष्य छात्र-जीवन में गोविन्द प्रसाद के सहपाठी थे।

गोविन्द के जीवन पर उनके ताऊ गुरुप्रसाद का उल्लेखनीय प्रभाव पड़ा था। धर्मप्राण गुरुप्रसाद मालदा जिले के चाँचल-राज के मन्दिर में प्रधान पुरोहित थे। राजा के देवालय में अन्नपूर्णा तथा गोविन्दजी की नित्य सेवा-पूजा होती थी। गुरु प्रसाद ने स्वेच्छापूर्वक भतीजे को अपने पास रखकर उसकी हर प्रकार की शिक्षा-दीक्षा की जिम्मेदारी स्वीकार की थी। बालक गोविन्द पूजा आदि कार्यों में ताऊजी की सहायता किया करते और वे भी अपने भक्तिमान भतीजे को सद्ग्रन्थ पढ़ाते तथा सर्वदा उसे संध्या-वन्दन आदि में प्रेरित तथा उत्साहित करते। बालक की धर्मशिक्षा तथा चरित्र-गठन की ओर उनका विशेष ध्यान रहता था। इन स्वधर्म-निष्ठ गुरुप्रसाद की शिक्षा तथा लालन-पालन के फलस्वरूप गोविन्द का बचपन अन्य बालकों की अपेक्षा कुछ वैशिष्ट्य लेकर ही विकसित हो रहा था। बालक की अन्तर्मुखी मनोवृत्ति तथा ध्यान-धारणा आदि में अनुराग ने क्रमश: परिपुष्ट होकर उनके चरित्र में एक तरह की मधुर स्निग्धता ला दी थी। समवयस्क बालकों के साथ घनिष्ठता तथा प्रीतिपूर्ण मेल-जोल रहने के बावजूद गोविन्द के जीवन में मानो एक स्वाभाविक स्वातंत्र्य का भाव दीख पड़ता था। आयुवृद्धि के साथ-साथ यही क्रमश: उनके माधुर्य-मण्डित व्यक्तित्व में परिणत हुआ। अस्तु, १८९० ई. में गोविन्द प्रसाद ने चाँचल-राज उच्च विद्यालय से प्रवेशिका परीक्षा पास की। यहाँ यह भी उल्लेखनीय है कि चाँचल के राजा हो इस चरित्रवान मेधावी बालक की पढ़ाई-लिखाई का सारा खर्च वहन करते थे। फिर उन्हीं की उदारता से गोविन्द की कलकत्ते के रिपन कॉलेज में पढ़ाई की व्यवस्था हुई। मेधावी होने के कारण प्रवेशिका परीक्षा में उन्हें सरकारी छात्रवृत्ति भी प्राप्त हुई थी।

रिपन कॉलेज में पढ़ते समय ही गोविन्द प्रसाद को कई धर्ममित्रों का सान्निध्य प्राप्त होने से उनके जीवन का एक स्मरणीय अध्याय आरम्भ हुआ। स्वामीजी के उपर्युक्त शिष्यों के साथ उनका पूर्वाश्रम से ही स्नेह-सम्पर्क था। उन सभी के साथ इस रिपन कॉलेज में ही उनका परिचय हुआ था। उनमें एकमात्र सुधीर (शुद्धानन्दजी) ही सिटी कॉलेज में पढ़ते थे। वैसे केवल रिपन कॉलेज में अध्ययन के कारण ही इन लोगों के बीच घनिष्ठता नहीं हुई थी, एक अन्य कारण भी उनके बीच इस सम्पर्क का हेतु हुआ था। गोविन्द प्रसाद कलकत्ते के जिस मकान में रहकर कॉलेज की पढ़ाई करते थे, संयोग -वश उस घर का एक तरुण भी उनका सहपाठी था। इस समवयस्क किशोर के साथ उनका सम्पर्क क्रमशः इतना घनिष्ठ हो गया कि वह जीवन-पथ में उनके लिये वास्तविक रूप से अच्छेद्य हो गया था। गोविन्द प्रसाद के ये तरुण मित्र खगेन ही बाद में स्वामीजी के एक संन्यासी शिष्य स्वामी विमलानन्द हुए। एक अन्य उल्लेखनीय बात यह है कि स्वामीजी के एक अन्य विशिष्ट शिष्य स्वामी बोधानन्द भी पूर्वाश्रम में इसी परिवार के सदस्य थे। गोविन्द प्रसाद ही खगेन के घर के छोटे-छोटे बच्चों को पढ़ाया करते थे, वैसे वे इसके लिये कोई पारिश्रमिक नहीं लेते थे। युवकों की जो टोली खगेन के नेतृत्व में गठित हो रही थी, क्रमशः गोविन्द भी उसके नियमित सदस्य बन गये। इस आदर्शनिष्ठ तरुण-संघ की धर्मचर्चा, साधुसंग तथा भगवत्-निष्ठा ने उन्हें खूब प्रभावित किया था; और इन्हीं लोगों के साथ मिलकर उनका जो काँकुड़गाछी योगोद्यान, वराहनगर मठ तथा दक्षिणेश्वर आना-जाना शुरू हुआ, उसी को गोविन्द प्रसाद के आध्यात्मिक जीवन का शुभारम्भ कहा जा सकता है। इन्हीं दिनों वे 'वचनामृत'-कार श्रीम या मास्टर महाशय, रामचन्द्र दत्त, मनोमोहन मित्र, गिरीशचन्द्र घोष आदि श्रीरामकृष्ण के भक्तों का संगलाभ – उनके इस यात्रापथ में दुर्लभ प्रेरणा सिद्ध हुआ था। विशेषकर मास्टर महाशय के निर्देश पर ही उनके तथा उनके मित्रों को श्रीरामकृष्ण के त्यागी शिष्यों का सान्निध्य प्राप्त हुआ था। वराहनगर मठ के साधुओं की ईश्वर के लिये ज्वलन्त व्याकुलता और साधन-तपस्या ने गोविन्द प्रसाद को अद्भुत रूप से आकृष्ट किया था। युगावतार के लीला-सहचरों के अग्नि-स्पर्श से उनका तरुण चित्त उत्तरोत्तर आलोकित होता रहा। स्वामी रामकृष्णानन्द ही इन युवकों को सर्वाधिक साहचर्य प्रदान करके इनके मन को उद्दीप्त कर देते।

गोविन्द प्रसाद रिपन कॉलेज से विशेष योग्यता के साथ एफ.ए. की परीक्षा में उत्तीर्ण हुए और इसके बाद उन्होंने वहीं पर बी.ए. की पढ़ाई आरम्भ की। बी.ए. के अध्ययन काल में उनका हृदय वैराग्य की अग्नि से और भी अधिक तेजोमय होता रहा। उसी समय मठ वराहनगर से स्थानान्तरित होकर आलमबाजार चला गया। ज्यों-ज्यों उनकी मठ से घनिष्ठता तथा वहाँ आवागमन बढ़ता जा रहा था, त्यों-त्यों उनका मन ईश्वर की खोज में अन्तर्मुख भी होता जा रहा था। इसके पूर्व वे अपने मित्रों के साथ बीच-बीच में काँकुड़गाछी के योगोद्यान में जाकर रामबाबू आदि भक्तों के सान्निध्य में आनन्दित होते तथा विमल सुख का अनुभव करते – और अब श्रीरामकृष्ण के त्यागी शिष्यों के प्रत्यक्ष सम्पर्क में एक नवीन राज्य का सन्धान पाकर वे आत्मविभोर होने लगे। अब उनके अन्तर में ईश्वर के लिये व्याकुलता अदम्य हो उठी और क्रमशः संसार के प्रति उनकी उदासीनता भी प्रकट होने लगी। इसी बीच गोविन्द के अभिभावकों ने संसार के प्रति उनका वैराग्य देखकर उनका विवाह करके उन्हें संसारी बनाने की चेष्टा में कोई भूल नहीं की। उन लोगों ने गोविन्द प्रसाद का विवाह तो कर दिया, परन्तु उन्हें संसारी नहीं बना सके।

१८९३ या ९४ की बात है। गोविन्द का साधन-भजन तथा निर्जन में कालयापन की ओर अधिक झुकाव हो गया। वे अपने धर्ममित्रों के साथ नियमित रूप से आलमबाजार मठ में जाकर साधुसंग तथा ध्यान-धारणा आदि करते, या कभी-कभी काँकुड़गाछी के रामचन्द्र दत्त के उद्यान में जाकर निर्जन-वास तथा ईश्वर-चिन्तन करते। इसके अतिरिक्त अन्य किसी भी विषय में उनका अधिक मनोयोग नहीं था। बीच-बीच में वे दक्षिणेश्वर जाकर भी ध्यान-चिन्तन आदि किया करते।

गोविन्द के इस भावान्तर की सूचना अविलम्ब चाँचल के राजा तक जा पहुँची। इससे उनके भविष्य के विषय में राजा पूरी तौर से निराश हो गये, क्योंकि कहते हैं कि बाद में उन्होंने उनकी पढ़ाई का व्यय-भार उठाना बन्द कर दिया था। इसके फलस्वरूप, कुछ काल बाद गोविन्द प्रसाद की कॉलेज की पढ़ाई बन्द हो गयी थी। अस्तु, संसार के इन घात-प्रतिघातों से उनका जरा भी अहित नहीं हुआ, बल्कि उनके वैराग्य में और भी वृद्धि ही हुई। यहाँ एक बात अवश्य स्मरणीय है कि कॉलेज में पढ़ाई के दौरान ही वे श्रीमाँ सारदा देवी की कृपा पाकर धन्य हो गये थे – माँ ने उन्हें मंत्रदीक्षा देकर उनका नर-जन्म सार्थक कर दिया था। परिवेश की विविध प्रतिकूलताओं के फलस्वरूप साधन-भजन में असुविधा होते रहने के कारण, स्वामी त्रिगुणातीतानन्द की सलाह पर एक दिन वे दक्षिणेश्वर के काली-मन्दिर चले गये और वहीं रहकर निश्चिन्त भाव से ध्यान-भजन में तल्लीन हो गये। काली-मन्दिर के भण्डार से प्राप्त होनेवाली भिक्षा से ही वे किसी प्रकार भोजन आदि निपटाकर अपना अधिकांश समय जप-ध्यान आदि में बिताते। इसके अलावा बीच-बीच में वे आलमबाजार मठ भी चले जाते। उन दिनों स्वामी रामकृष्णानन्द मठ के व्यवस्थापक थे। वे अनुग्रहपूर्वक गोविन्द को अपने पास बुलाकर उन्हें तरह-तरह के उपदेश तथा प्रोत्साहन देते

हुए उन्हें सर्वदा प्राणवन्त बनाये रखते और इस प्रकार अज्ञात रूप से उनके भावी संन्यास-जीवन की नींव भी गढ़ते जा रहे थे। आखिरकार एक दिन गोविन्द स्थायी रूप से आकर मठ में सम्मिलित हो गये। वह १८९६ ई. का साल था।

गोविन्द ने तो संसार का त्याग कर दिया, परन्तु संसार भला इतनी आसानी से उन्हें कैसे छोड़ देता ! – वह भी दृढ़ शक्ति के साथ उन्हें बाँधने का प्रयास कर रहा था। घर के सगे-सम्बन्धियों ने दूसरा कोई चारा न देख, चाँचल के राजा से ही सहायता का निवेदन किया, ताकि वे अपने व्यक्तिगत प्रभाव के बल पर गोविन्द को घर लौटाने की व्यवस्था करें। गोविन्द की पढ़ाई-लिखाई आदि सब राजा के ही धन से हुई थी, अत: राजा के प्रति कृतज्ञता का भाव रखना उनके लिये खूब स्वाभाविक था। राजा ने विशेष अनुरोधपूर्वक आलमबाजार मठ में उनके नाम एक पत्र भेजा था। पत्र का मजमून यह था कि राजा के किसी व्यक्तिगत कार्य में गोविन्द प्रसाद की उपस्थिति नितान्त आवश्यक थी – और यदि वे दो-चार दिन के लिये चाँचल के राजभवन में आ सकें, तो राजा उनके बड़े कृतज्ञ होंगे। गोविन्द ने सरल भाव से राजा का अनुरोध स्वीकार किया और तत्काल चाँचल के राजभवन में जाकर उपस्थित हुए। तब उनके सगे-सम्बन्धियों तथा राजा ने स्वयं भी उनसे बारम्बार अनुरोध करने लगे कि वे संसार-त्याग न करें। गोविन्द को यह समझते देर न लगी कि उन्हें इसी उद्देश्य से छलपूर्वक राजभवन में लाया गया है। राजा उन्हें न्याय-नीति की बातें समझाने लगे और उनसे बोले कि उनका अपनी विवाहिता पत्नी के प्रति भी कर्तव्य है, जो अवश्य पालनीय है और यदि वे स्वेच्छापूर्वक उस कर्तव्य की अवहेलना करेंगे, तो उसके परिणाम-स्वरूप उन्हें अशेष दुर्गति का भोग करना पड़ेगा। राजा ने उन्हें अपने स्वयं के विद्यालय में शिक्षक का कार्य अथवा अपने राज-कार्य में पद देकर उनकी संसार-यात्रा के निर्वाह की व्यवस्था भी कर दी थी। परन्तु सीधी उंगली से घी न निकलते देख राजा ने कठोर भाषा में उन्हें बलप्रयोग का भय भी दिखाया। इधर उनकी पत्नी ब्रह्ममयी देवी सजल नेत्रों के साथ सब कुछ देख रही थीं। संसार-विरागी पति को घर लौटाने का कोई भी अन्य उपाय न देख उन्होंने केवल अपने इष्टदेवता के समक्ष अपने हृदय की कातर प्रार्थना प्रकट की थी। यहाँ स्मरणीय है कि उनकी पत्नी ब्रह्ममयी देवी ने भी बाद में श्रीमाँ से मंत्रदीक्षा प्राप्त किया था और अपना बाकी जीवन पवित्रतापूर्वक पूजा-अर्चना, साधन-भजन आदि करते हुए ही बिताया था। अस्तु, गोविन्द को घर लौटाने की सारी चेष्टाएँ व्यर्थ सिद्ध हुईं। राजभवन का कड़ा पहरा भी उन्हें रोक नहीं सका।

बाँधने में सक्षम हुए न मन-चित्त जाके,
इन्द्र-सम बैभव तथा अप्सरा-सी नारी भी,
उसे भला कौन बाँध, रखे कहाँ और कैसे,
साधारण दुनिया की रस्सियाँ बिचारी भी !
(चैतन्य-चरितामृत)

गोविन्द प्रसाद के वैराग्य के समक्ष धन, जन, पत्नी, सम्मान, ख्याति, राजकृपा आदि सब कुछ तुच्छ सिद्ध हुआ। वे पहने हुए वस्त्रों में ही रात के अँधेरे में भागकर चुपचाप आलमबाजार मठ लौट आये।

गोविन्द का स्वास्थ्य बचपन से ही ठीक न था। अजीर्ण रोग से भोगते-भोगते उनका शरीर ऐसा हो गया था कि वे सोचते – इस जन्म में इस शरीर के द्वारा कोई उच्च साधना कर पाना असम्भव है; अत: जब शरीर को जाना ही है, तो किसी महान् उद्देश्य के लिये इसका नाश हो, ताकि अगले जन्म में योगाभ्यास के लिये उपयोगी सबल शरीर प्राप्त हो सके। गोविन्द के इस अद्भुत विचार ने ही उन्हें आलमबाजार मठ में अथक सेवा-कार्य के साथ-साथ सतत भगवच्चिन्तन की प्रेरणा दी थी। उन्होंने पूरे जी-जान से अपने को साधन-भजन तथा आश्रम के विविध कार्यों में झोंक दिया। इसी प्रकार उनकी जीवन-धारा धीर-मन्थर गति से १८९६ ई. के अन्त तक प्रवाहित होती रही। तभी इस धारा की शान्त गति में सहसा एक हलचल पैदा हुई, जो सम्भवत: आसन्न बाढ़ की सूचना दे रहा था। ❖ **(क्रमश:)** ❖

हजार बार प्रयत्न करो

असफलताओं की चिन्ता मत करो; वे बिलकुल स्वाभाविक हैं, इन असफलताओं में ही जीवन का सौन्दर्य हैं। उनके बिना जीवन क्या होता? जीवन में यदि संघर्ष न रहे, तो जीवित रहना ही व्यर्थ है – इसी संघर्ष में जीवन का काव्य है। संघर्ष और त्रुटियों की परवाह मत करो। मैंने किसी गाय को झूठ बोलते नहीं सुना, परन्तु फिर भी वह केवल गाय है, मनुष्य कभी नहीं। इसलिए इन असफलताओं पर ध्यान मत दो, ये छोटी-मोटी फिसलनें हैं। आदर्श को सामने रखकर हजार बार आगे बढ़ने का प्रयत्न करो। यदि तुम हजार बार भी असफल होते हो, तो एक बार फिर प्रयत्न करो।

– ***स्वामी विवेकानन्द***

कठोपनिषद्-भाष्य (६)

(सनातन वैदिक धर्म के ज्ञानकाण्ड को उपनिषद् कहते हैं। हजारों वर्ष पूर्व भारत में जीव-जगत् तथा उससे सम्बन्धित गम्भीर विषयों पर प्रश्न उठाकर उनकी जो मीमांसा की गयी थी, इनमें उन्हीं का संकलन है। श्रीशंकराचार्य ने वैदिक धर्म की पुन: स्थापना हेतु इन पर सहज-सरस भाष्य लिखकर अपने सिद्धान्त को प्रतिपादित किया था। स्वामी विदेहात्मानन्द द्वारा किया हुआ कठोपनिषद्-भाष्य का सरल अनुवाद प्रस्तुत है। भाष्य में आये मूल श्लोक के शब्दों को रेखांकित कर दिया गया है और कठिन सन्धियों का विच्छेद कर सरल रूप देने का प्रयास किया गया है, ताकि नव-शिक्षार्थियों को तात्पर्य समझने में सुविधा हो। –सं.)

पहले दो वरों के द्वारा इहलोक में पिता के स्नेह से लेकर स्वर्गलोक तक के समस्त कर्मफल दिये जा चुके हैं, परन्तु आत्मज्ञान के बिना आवागमन-रूपी संसार की निवृत्ति नहीं होती। अत: नचिकेता बोला –

येयं प्रेते विचिकित्सा मनुष्ये-
ऽस्तीत्येके नायमस्तीति चैके ।
एतद्विद्यामनुशिष्टस्त्वयाहं
वराणामेष वरस्तृतीय: ।।२०।।

अन्वयार्थ– प्रेते मनुष्ये मनुष्य या प्राणियों के मर जाने पर **इयम् या** यह जो (प्रचलित) **विचिकित्सा** संशय है – **अयम्** (देह से भिन्न) यह आत्मा **अस्ति** रहती है – **एके** कुछ लोग **इति** ऐसा (कहते हैं) **च** और **एके** कुछ लोग **न अस्ति** नहीं रहती – **इति** ऐसा (कहते हैं)। **त्वया** आपके द्वारा **अनुशिष्टः** उपदिष्ट होकर **अहम्** मैं **एतत्** यह (आत्मा का विषय) **विद्याम्** जानना चाहता हूँ। **एषः** यही **वराणाम्** आपके द्वारा दिये जानेवाले वरों में **तृतीयः वरः** तीसरा वर है।

भावार्थ – मनुष्य या प्राणियों के मर जाने पर यह जो (प्रचलित) संशय है – देह से भिन्न आत्मा रहती है – कुछ – लोग ऐसा (कहते हैं) और कुछ लोग यह आत्मा नहीं रहती ऐसा (कहते हैं)। आपके उपदेश के द्वारा मैं यह (आत्मा का विषय) जानना चाहता हूँ। यही आपके द्वारा दिये जानेवाले वरों में तीसरा वर है ॥

भाष्य – येयं विचिकित्सा संशयः प्रेते मृते मनुष्ये, अस्ति इत्येके अस्ति शरीर-इन्द्रिय-मनो-बुद्धि-व्यतिरिक्तो देहान्तर -सम्बन्धि-आत्मा इति एके (मन्यन्ते), नायम् अस्ति इति चैके नायम् एवंविधः अस्ति इति चैके। अतः च अस्माकं न प्रत्यक्षेण न अपि वा अनुमानेन निर्णय-विज्ञानम्। एतत् विज्ञान-अधीनः हि परः पुरुषार्थः इति।

भाष्य-अनुवाद – मरे हुए मनुष्य के बारे में यह जो संशय किया जाता है – कुछ लोग कहते हैं कि देह, इन्द्रिय, मन, बुद्धि से भिन्न दूसरे शरीर में चली जानेवाली आत्मा रहती है; और कुछ लोग कहते हैं कि वह नहीं रहती। अतएव इसके अस्तित्व का निर्णय करना हमारे प्रत्यक्ष अनुभव या अनुमान (प्रमाणों) के द्वारा भी नहीं हो सकता। तथापि इसी के ज्ञान पर (मानव-जीवन का) परम पुरुषार्थ (मोक्ष) निर्भर करता है।

अतः एतत् विद्यां विजानीयाम् अहम् अनुशिष्टः ज्ञापितः त्वया। वराणाम् एष वरः तृतीयः अवशिष्टः ।।२०।।

इसलिये आपके उपदेश के द्वारा मैं इसे जानूँगा। वरों में बचा हुआ (मेरा) तीसरा वर यही है।

किम्-अयम्-एकान्ततः निःश्रेयस-साधन-आत्मज्ञान-अर्हः न वा इति एतत् परीक्षणार्थम् आह –

यह (नचिकेता) पूरी तौर से निःश्रेयस (परम कल्याण-रूप मोक्ष) के साधन-रूप आत्मज्ञान के योग्य है अथवा नहीं, इसकी परीक्षा करने हेतु यमराज बोले –

देवैरत्रापि विचिकित्सितं पुरा
न हि सुविज्ञेयमणुरेष धर्मः ।
अन्यं वरं नचिकेतो वृणीष्व
मा मोपरोत्सीरति मा सृजैनम् ।।२१।।

अन्वयार्थ – (नचिकेता की योग्यता की जाँच करने हेतु यम बोले –) **अत्र** इस आत्मतत्त्व के विषय में **पुरा** पूर्वकाल में **देवैः** देवताओं के द्वारा **अपि** भी **विचिकित्सितम्** सन्देह प्रकट किया गया था; **हि** क्योंकि **एषः** यह **धर्मः** आत्मतत्त्व रूपी धर्म (सुनने पर भी) **सुविज्ञेयम् न** आसानी से समझ में नहीं आता, (क्योंकि यह) **अणुः** अति सूक्ष्म है। **नचिकेतः** हे नचिकेता, **अन्यम्** अन्य कोई **वरम्** वर **वृणीष्व** माँग लो; **मा** मुझसे (इसके लिये) **मा उपरोत्सीः** आग्रह मत करो, **मा** मुझसे **एनम्** इस वर को **अतिसृज** छोड़ दो।

भावार्थ–(नचिकेता की योग्यता की जाँच करने हेतु यम बोले –) इस आत्मतत्त्व के विषय में पूर्वकाल में देवताओं के द्वारा भी सन्देह प्रकट किया गया था; क्योंकि यह आत्मतत्त्व रूपी धर्म (सुनने पर भी) आसानी से समझ में नहीं आता, (क्योंकि यह) अति सूक्ष्म है। हे नचिकेता, अन्य कोई वर माँग लो; मुझसे (इसके लिये) आग्रह मत करो, मुझसे इस वर को छोड़ दो।

भाष्य – देवैः अपि अत्र एतस्मिन् वस्तुनि विचिकित्सितं संशयितं पुरा पूर्वम्। न हि सुविज्ञेयं सुष्ठु विज्ञेयम् श्रुतम् अपि प्राकृतैः जनैः, यतः अणुः सूक्ष्मः एषः आत्माख्यः धर्मः। अतः

अन्यम् असंदिग्धफलं वरं नचिकेतः, वृणीष्व। मा मां मोपरोत्सीः उपरोधं मा कार्षीः अधमर्णम् इव उत्तमर्णः। अतिसृज विमुञ्च एनं वरं मा मां प्रति ।।२१।।

भाष्य-अनुवाद – पहले देवताओं ने भी इस विषय में सन्देह किया था। चूँकि यह आत्मतत्त्व सूक्ष्म है, अतः सामान्य लोगों द्वारा सुने जाने पर भी आसानी से समझ में नहीं आता। अतः हे नचिकेता, तुम निश्चित फलवाला कोई अन्य वर माँग लो। ऋणदाता द्वारा ऋणी के समान तू इसके लिये आग्रह मत कर। मुझे इस वर से मुक्त कर दे।

एवम् उक्तः नचिकेता आह –

यम द्वारा ऐसा कहे जाने पर नचिकेता बोला –

देवैरत्रापि विचिकित्सितं किल
त्वं च मृत्यो यन्न सुज्ञेयमात्थ ।
वक्ता चास्य त्वादृगन्यो न लभ्यो
नान्यो वरस्तुल्य एतस्य कश्चित् ।।२२।।

अन्वयार्थ – (नचिकेता बोला –) **देवैः अपि** जब देवताओं द्वारा भी **अत्र** इस विषय में **किल** निश्चय ही **विचिकित्सितम्** संशय व्यक्त किया गया था; **मृत्यो** हे यमराज, **त्वम् च** और आप भी **यत्** चूँकि (इस आत्मतत्त्व को) **न सुज्ञेयम्** सहज-बोध्य नहीं है **आत्थ** (ऐसा) कहते हैं, (फिर) **अस्य** इस तत्त्व का **वक्ता च** उपदेशक भी **त्वादृक्** आपके समान **अन्यः** अन्य कोई **न लभ्यः** मिलनेवाला नहीं है; (अतः) **एतस्य** इसके **तुल्यः** जैसा **अन्यः** दूसरा **कः चित्** कोई भी **वरः** वर **न** नहीं है।

भावार्थ –(नचिकेता बोला –) जब देवताओं द्वारा भी इस विषय में निश्चय ही संशय व्यक्त किया गया था; तो हे यमराज, और आप भी चूँकि (इस आत्मतत्त्व को) सहज-बोध्य नहीं है (ऐसा) कहते हैं, (फिर) इस तत्त्व का उपदेशक भी आपके समान अन्य कोई मिलनेवाला नहीं है; (अतः) इसके जैसा दूसरा कोई भी वर नहीं है।

भाष्य – देवैः अत्र अपि एतस्मिन् वस्तुनि विचिकित्सितं किल इति भवतः एव नः श्रुतम्। त्वं च मृत्यो, यत् यस्मात् न सुज्ञेयम् आत्मतत्त्वम् आत्थ कथयसि। अतः पण्डितैः अपि अवेदनीयत्वात् वक्ता च अस्य धर्मस्य त्वादृक् त्वत्-तुल्यः अन्यः पण्डितः च न लभ्यः अन्विष्यमाणः अपि।

भाष्य-अनुवाद – इस वस्तु के बारे में देवताओं ने भी शंका की थी – यह बात हमने आप ही के मुख से सुनी। और हे यमराज, चूँकि आप यह भी कहते हैं कि यह आत्मतत्त्व आसानी से समझ में नहीं आने वाला है; अतः यह वस्तु विद्वानों द्वारा भी जानने योग्य नहीं है। फिर इस तत्त्व का आपके समान दूसरा कोई विद्वान् वक्ता भी, ढूँढ़ने के बावजूद नहीं मिलनेवाला है।

अयं तु वरः निःश्रेयस-प्राप्ति-हेतुः। अतः न अन्यः वरः तुल्यः सदृशः अस्ति एतस्य कश्चित् अपि। अनित्य-फलत्वात् अन्यस्य सर्वस्य एव इति अभिप्रायः ।।

परन्तु यह वर निःश्रेयस् अर्थात् परम कल्याण की प्राप्ति का हेतु है। अतः कोई भी वर इसके जरा भी समतुल्य नहीं हो सकता। क्योंकि अन्य सभी वर अनित्य फलों की प्राप्ति कराने वाले हैं। इसका यही तात्पर्य है। ❖ **(क्रमशः)** ❖

विवेक-चूडामणि

श्री शंकराचार्य

आत्म-स्वरूप-निरूपण (जारी)

घटोदके बिम्बितमर्कबिम्ब-
मालोक्य मूढो रविमेव मन्यते ।
तथा चिदाभासमुपाधिसंस्थं
भ्रान्त्याहमित्येव जडोऽभिमन्यते ।।२१८।।

अन्वय – मूढः घटोदके बिम्बितम् अर्कबिम्बम् आलोक्य रविम् एव मन्यते, तथा जडः भ्रान्त्या उपाधि-संस्थं चिदाभासम् अहम् इति एव अभिमन्यते।

अर्थ – जैसे मूर्ख व्यक्ति घड़े में पड़ते सूर्य के प्रतिबिम्ब को देखकर उसी को सच्चा सूर्य समझ बैठता है, वैसे ही जड़ बुद्धिवाला व्यक्ति (मन, बुद्धि आदि) उपाधियों पर पड़ रहे शुद्ध चैतन्य के प्रतिबिम्ब को ही 'मैं' मानने लगता है।

घटं जलं तद्गतमर्कबिम्बं
विहाय सर्वं विनिरीक्ष्यतेऽर्कः ।
तटस्थ एतत्त्रितयावभासकः
स्वयंप्रकाशो विदुषा यथा तथा ।।२१९।।

अन्वय – यथा घटं जलं तद्गतम् अर्क-बिम्बम् सर्वं विहाय विदुषा एतत् त्रितय-अवभासकः तटस्थः स्वयंप्रकाशः अर्कः विनिरीक्ष्यते, तथा।

अर्थ – जैसे घट, उसमें जल तथा उसमें पड़ रहे सूर्य के प्रतिबिम्ब – सबको छोड़कर विद्वान् व्यक्ति इन तीनों के प्रकाशक, उपाधिरहित, स्वयंप्रकाश सूर्य का अवलोकन करता है।

देहं धियं चित्प्रतिबिम्बमेवं
विसृज्य बुद्धौ निहितं गुहायाम् ।
द्रष्टारमात्मानमखण्डबोधं
सर्वप्रकाशं सदसद्विलक्षणम् ।।२२०।।
नित्यं विभुं सर्वगतं सुसूक्ष्म-
मन्तर्बहिःशून्यमनन्यमात्मनः ।
विज्ञाय सम्यङ्निजरूपमेतत्
पुमान् विपाप्मा विरजो विमृत्युः ।।२२१।।

विशोक आनन्दघनो विपश्चित्
स्वयं कुतश्चिन्न बिभेति कश्चित् ।
नान्योऽस्ति पन्था भवबन्धमुक्ते-
र्विना स्वतत्त्वावगमं मुमुक्षोः ।।२२२।।

अन्वय – एवं देहं धियं चित्प्रतिबिम्बम् विसृज्य बुद्धौ गुहायाम् निहितं अखण्डबोधं द्रष्टारं आत्मानं सर्वप्रकाशं सद्-असद्-विलक्षणं नित्यं विभुं सर्वगतं सुसूक्ष्मं अन्तर्बहिःशून्यं अनन्यं आत्मनः एतत् निजरूपम् सम्यक् विज्ञाय पुमान् विपाप्मा विरजाः विमृत्युः विशोकः आनन्दघनः विपश्चित् कश्चित्, स्वयं कुतश्चित् बिभेति न । भवबन्धमुक्तेः मुमुक्षोः स्वतत्त्वावगमं विना अन्यः पन्थाः अस्ति न ।

अर्थ – उसी प्रकार शरीर (घट), बुद्धि (जल) तथा उसमें पड़ रहे चैतन्य के प्रतिबिम्ब (अहंता) को छोड़कर, शुद्ध बुद्धिरूपी गुहा में निहित अखण्ड ज्ञान-स्वरूप, द्रष्टा, सर्व-वस्तुओं के प्रकाशक, कारण-कार्य (सत्-असत्) से भिन्न आत्मा को नित्य, विभू (सर्वव्यापी), सर्वगत (सर्वचारी), अति सूक्ष्म, भीतर-बाहर से रहित, अपनी आत्मा से अभिन्न, अपने इस स्वरूप को भलीभाँति जानकर, आत्मज्ञ पुरुष निष्पाप, रजोगुण के चंचलता तथा मलिनता आदि दोषों से रहित, मृत्यु के दुख से रहित, कोई-कोई नित्यज्ञानी विद्वान् स्वयं को शोकहीन तथा आनन्द-स्वरूप बोध करके ('अभयता' में स्थित होकर) किसी से भी भय नहीं पाते । मुमुक्षु साधक के लिये आत्मतत्त्व की उपलब्धि के अतिरिक्त भव-बन्धन से मुक्त होने का दूसरा कोई मार्ग नहीं है ।

ब्रह्माभिन्नत्वविज्ञानं भवमोक्षस्य कारणम् ।
येनाद्वितीयमानन्दं ब्रह्म सम्पद्यते बुधैः।।२२३।।

अन्वय – ब्रह्म-अभिन्नत्व-विज्ञानं भव-मोक्षस्य कारणम्, येन बुधैः अद्वितीयम् आनन्दम् ब्रह्म सम्पद्यते ।

अर्थ – ब्रह्म के साथ आत्मा की अभिन्नता का ज्ञान ही भवबन्धन से मुक्ति का कारण है । इसी ज्ञान के द्वारा विवेकी साधको को अद्वितीय आनन्दस्वरूप ब्रह्म की प्राप्ति होती है ।

ब्रह्मभूतस्तु संसृत्यै विद्वान्नावर्तते पुनः ।
विज्ञातव्यमतः सम्यग्ब्रह्माभिन्नत्वमात्मनः।। २२४

अन्वय – ब्रह्मभूतः विद्वान् तु पुनः संसृत्यै न आवर्तते । अतः आत्मनः सम्यक् ब्रह्म-अभिन्नत्वम् विज्ञातव्यम् ।

अर्थ – ब्रह्म में स्थित विद्वान् निश्चय ही पुनः (जन्म-मृत्यु के) संसार-चक्र में लौटकर नहीं आता । अतः आत्मा व ब्रह्म की अभिन्नता की भलीभाँति अनुभूति कर लेनी चाहिये ।

सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म विशुद्धं परं स्वतःसिद्धम् ।
नित्यानन्दैकरसं प्रत्यगभिन्नं निरन्तरं जयति ।। २२५

अन्वय – सत्यं ज्ञानं अनन्तं विशुद्धं परं स्वतःसिद्धम् नित्य-आनन्द-एकरसं प्रत्यक्-अभिन्नम् निरन्तरं ब्रह्म जयति ।

अर्थ – सत्य-स्वरूप, ज्ञान-स्वरूप, अन्तहीन, विशुद्ध, सर्वश्रेष्ठ, स्वतःसिद्ध (प्रमाण-निरपेक्ष), नित्य, अखण्ड, आनन्द-स्वरूप, जीवात्मा से अभिन्न, निरन्तर (बाह्य-अन्तर-भेदरहित) ब्रह्म सर्वदा उज्ज्वल रूप में प्रकाशमान होवे ।

ब्रह्म और जगत् की अभिन्नता

सदिदं परमाद्वैतं स्वस्मादन्यस्य वस्तुनोऽभावात् ।
न ह्यन्यदस्ति किञ्चित्सम्यक् परमार्थतत्त्वबोधदशायाम् ।।

अन्वय – स्वस्मात् अन्यत् वस्तुनः अभावात्, इदं सत् परम-अद्वैतं परमार्थ-तत्त्व-बोध-दशायाम् अन्यत् किञ्चित् सम्यक् हि न अस्ति ।

अर्थ – अपनी आत्मा से भिन्न किसी भी अन्य वस्तु का अभाव होने के कारण, यह आत्मा सत्य, सर्वश्रेष्ठ तथा अद्वितीय है । परमार्थ तत्त्व का बोध होने पर जो अवस्था होती है, उस दशा में निश्चय ही ब्रह्म के अतिरिक्त अन्य कुछ भी स्वतंत्र रूप से नहीं रहता ।

यदिदं सकलं विश्वं नानारूपं प्रतीतमज्ञानात् ।
तत्सर्वं ब्रह्मैव प्रत्यस्ताशेषभावनादोषम् ।।२२७।।

अन्वय – यत् इदं सकलं विश्वं अज्ञानात् नानारूपं प्रतीतम् प्रत्यस्त-अशेष-भावना-दोषं तत् सर्वम् ब्रह्म एव (भाति) ।

अर्थ – अज्ञान के कारण नाना रूपों में प्रतीत होने वाला 'इदम्' रूपी सम्पूर्ण विश्व – असंख्य कल्पनाओं के दोष से रहित ब्रह्म ही है ।

मृत्कार्यभूतोऽपि मृदो न भिन्नः
कुम्भोऽस्ति सर्वत्र तु मृत्स्वरूपात् ।
न कुम्भरूपं पृथगस्ति कुम्भः
कुतो मृषा कल्पितनाममात्रः।।२२८।।

अन्वय – कुम्भः मृत्कार्यभूतः अपि मृदः भिन्नः न अस्ति । सर्वत्र कुम्भरूपं मृत्स्वरूपात् तु पृथक् न अस्ति । मृषा कल्पित-नाममात्रः कुम्भः कुतः (अस्ति)?

अर्थ – घड़ा मिट्टी (रूपी कारण का) कार्य होने पर भी मिट्टी के अतिरिक्त अन्य कुछ भी नहीं है । सर्वत्र घड़े का रूप अपने मिट्टी-स्वरूप से भिन्न नहीं होता । घड़ा कहाँ है? वह तो मिथ्या कल्पित नाम मात्र ही है ।

केनापि मृद्भिन्नतया स्वरूपं
घटस्य संदर्शयितुं न शक्यते ।
अतो घटः कल्पित एव मोहा-
न्मृदेव सत्यं परमार्थभूतम् ।।२२९।।

अन्वय – केन अपि घटस्य स्वरूपं मृद्-भिन्नतया संदर्शयितुं न शक्यते । अतः घटः मोहात् एव कल्पितः, मृद्-एव परमार्थ-भूतम् सत्यम् ।

अर्थ – किसी के लिये भी मिट्टी से भिन्न घड़े का स्वरूप दिखाना सम्भव नहीं है । अतः घड़ा अज्ञान द्वारा कल्पित है; और मिट्टी ही परमार्थ रूप में सत्य है । ❖ **(क्रमशः)** ❖

प्रश्नोत्तर दीपमाला (प्रथम भाग)

समीक्षक – स्वामी प्रपत्त्यानन्द

प्रश्नोत्तर दीपमाला, भाग-१
(स्वामी रामानन्दजी सरस्वती द्वारा
साधकों के प्रश्नों के उत्तर)
प्राप्ति-स्थान - मार्कण्डेय संन्यास आश्रम,
पो. - ओंकारेश्वर - जिला - खण्डवा (म.प्र.)
पिन कोड - ४५० ५५४
फोन नं. - ०७२८०-२७१२६७, ९८२७८१३७११,
९४२५९३९५६७
सहयोग राशि - ५०/- रूपये (डाकखर्च अलग)

श्रीमद्-भगवद्-गीता में भगवान श्रीकृष्ण अपने सखा और शरणागत शिष्य अर्जुन को कहते हैं –

तद् विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया ।
उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिनः ।।४/३४

– हे अर्जुन! इस ज्ञान को तत्त्वदर्शी, तत्त्वज्ञानी महापुरुषों से जानो । उन ब्रह्मज्ञानी तत्त्ववेत्ता महात्माओं को साष्टांग प्रणाम करने से, उनकी निष्ठापूर्वक सेवा करने से और उनसे निश्चल भाव से सरलतापूर्वक तत्त्वजिज्ञासा करने से वे ज्ञानी संत तुम्हें उस तत्त्वज्ञान का, परमात्म-तत्त्व का उपदेश करेंगे, जिसे ज्ञात कर तुम्हें फिर से मोह नहीं होगा और तुम सर्वत्र सब में स्थित मुझ परमात्मा का ही दर्शन करोगे ।

उपनिषदों में भी मन्त्रद्रष्टा ऋषियों ने जिज्ञासा के द्वारा तत्त्वज्ञान का उपदेश किया है तथा शिष्य की शंकाओं का समाधान कर उसके मन को परमात्मा में प्रतिष्ठित किया है । शाश्वत परमात्मा का अस्तित्व नित्य कण-कण में प्रकाशित होते रहने पर भी अनित्य जागतिक माया-प्रपंच हमें उसका अनुभव नहीं होने देता । हमारी बुद्धि हमें सर्वदा संशयी बनाये रखती है । यहाँ तक कि इस संशयात्मिका बुद्धि के कारण हम अपने जीवन के मूलाधार भगवान को अस्वीकार देते हैं, उनकी सत्ता पर संशय करने लगते हैं । इस संशयात्मिका बुद्धि के कारण ही ईश्वर पर हमारी दृढ़ धारणा नहीं हो पाती है, इसके फलस्वरूप हम सचिदानन्दमय ईश्वर से पृथक् हो जाते हैं तथा इस दुखमय संसार को सत्य मानकर इससे संयुक्त होकर सांसारिक दुख-क्लशों से कष्ट पाने लगते हैं ।

ईश्वर से तादाम्य स्थापित कर, उनकी परमानन्दमय स्वरूप से संयुक्त होकर उस शाश्वत आनन्द को पाने के लिये सर्वप्रथम हमें उस बुद्धि के संशयों को नष्ट कर उसे ईश्वरपरायण बनाना होगा ।

उपनिषदों के ऋषियों ने भी अपने जिज्ञासु शिष्यों की जिज्ञासा एवं शंकाओं का समाधान कर साधकों के कंटकाकीर्ण साधना-मार्ग को प्रशस्त किया है । श्वेताश्वतर उपनिषद् का आरम्भ जिज्ञासु साधकों के शाश्वत प्रश्न से ही होता है । प्रश्नोपनिषद् में ऋषि पिप्पलाद और भार्गव-सौम्य आदि के संवाद का ही वर्णन है ।

मुण्डक उपनिषद् में शिष्य पूछता है – **कस्मिन् नु भगवो विज्ञाते सर्वं इदं विज्ञातं भवति इति** – हे प्रभो ! किसके जान लेने से सबका ज्ञान हो जाता है? तब ऋषि अपरा विद्या के बताने के बाद कहते हैं – **अथ परा यया तद् अक्षरं अधिगम्यते तथा तमैवैकं जानथ आत्मानम् अन्या वाचा विमुञ्चथ** – जिससे उस अक्षर ब्रह्म का ज्ञान हो, वह पराविद्या है । उसके जानने के बाद कुछ जानना शेष नहीं रह जाता । अन्य प्रपंचों को छोड़ उसी एक ब्रह्म को जानने का प्रयास करना चाहिये ।

जिज्ञासा-समाधान की शृंखला में – श्रीमद्-भगवद्-गीता में श्रीकृष्ण-अर्जुन-संवाद, श्रीरामचरित मानस में श्रीराम-लक्ष्मण-हनुमान-संवाद, श्रीरामकृष्ण-वचनामृत में श्रीरामकृष्ण-स्वामी विवेकानन्द आदि भक्तों के संवाद उपलब्ध हैं । श्रीशंकराचार्य की 'प्रश्नोत्तरी पुस्तिका, स्वामी अखण्डानन्द सरस्वती का 'आनन्द उल्लास' ग्रन्थ और अनेकों सद्गुरुओं और आचार्यों द्वारा विभिन्न प्रकार से शिष्यों के जिज्ञासाओं के समाधान का प्रयास किया गया है, जिससे जिज्ञासु संशयरहित होकर सही निर्देशन पाकर जीवन के परम लक्ष्य परमात्मा की ओर अग्रसर हो सके ।

इसी परम्परा के संवाहक मध्य प्रदेश के ओंकारेश्वर में 'मार्कण्डेय संन्यास आश्रम' के संस्थापक परम विरक्त ब्रह्मनिष्ठ त्याग-शिरोमणि सर्वजन वन्दनीय सन्त ब्रह्मलीन श्रीमत् स्वामी रामानन्द सरस्वती जी महाराज थे । विभिन्न समयों पर जिज्ञासुओं द्वारा पूछे गये प्रश्नों के उत्तर पूज्य महाराजश्री के मुखारविन्द से समय-समय पर विभिन्न स्थानों पर प्रस्फुटित हुये । उनके द्वारा प्रदत्त समाधान जिज्ञासुओं की शंका-निवृत्ति हेतु अमोघास्त्र सदृश है । उस संकलन का नाम है 'प्रश्नोत्तर दीपमाला' ।

'प्रश्नोत्तर दीपमाला' का ज्ञान-प्रकाश, साधकों के सभी प्रकार के संशय-तमान्धता का विनाश कर परम प्रकाशस्वरूप परमात्मा की ओर अग्रसर करने में सुसक्षम है । इस पुस्तक में विभिन्न विषयों पर पूज्य महाराज जी ने प्रकाश डाला है । इस पुस्तक में उल्लिखित सभी प्रश्नों को २४ भागों में विभक्त किया गया है ।

१. कर्म और गति – इस प्रसंग में एक जिज्ञासु ने पूछा – महाराज ! चित्त शुद्धि के लिए शास्त्रीय कर्म किस प्रकार करना चाहिए? उत्तर में महाराज कहते हैं – "कर्तृत्व

के अभिमान को त्यागकर निष्काम होकर किये गये शास्त्रीय कर्म ही चित्तशुद्धि कर सकते हैं। वैसे तो चित्त शुद्धि में नित्य कर्मों की भूमिका है, परन्तु सकाम कर्मों को भी यदि व्यक्ति निष्काम भाव से करता है, तो वे अन्त:करण की शुद्धि में हेतु बन जाते हैं।'' विधिपूर्वक श्रद्धासहित शास्त्रीय कर्म करने से और केवल शास्त्रीय कर्म करने से क्या फल होता है, इसे सोदाहरण पूज्य महाराज ने समझाया है। प्रकृति, पुरुषार्थ की महिमा, श्राद्ध क्यों करें, इन सबका शास्त्रीय प्रमाण सहित विवेचन है। सब कुछ भगवान कर रहे हैं, तो इसमें जीव की क्या भूमिका है, इसका उत्तर महाराज ने दृष्टान्त के साथ दिया है।

इष्ट-दर्शन हेतु यदि कोई हठ करे और उसकी किसी कारण से मृत्यु हो जाय, तो उसका क्या होता है? साधु को किस प्रकार से लोकसंग्रह करना चाहिये? मृत्यु के बाद जीव की क्या गति होती है? इन सबका दृष्टिकोण पूज्य महाराज जी ने स्पष्ट किया है।

२. भक्ति और उपासना – भगवान का दर्शन कैसे हो सकता है? ज्ञान और भक्ति कैसे अन्योन्याश्रित हैं, इसे अपने हिमालय की दिव्य घटना से महाराज ने समझाया है, जिसमें एक मृग मनुष्य की भाषा में आकर महाराज से बात करता है और बाद में संत के रूप में परिणत हो जाता है। माता-पिता की सेवा से ईश्वर-प्राप्ति हो सकती है, इसकी सोदाहरण इस अध्याय में चर्चा की गयी है।

३. ज्ञानचर्चा – आत्मज्ञान कैसे हो सकता है? क्या शास्त्र-अध्ययन आवश्यक है? क्या कुत्ते-चाण्डल में परमात्म -दर्शन सम्भव है? आदि पर इस अध्याय में विचार किया गया है।

४. वेदान्त और ५.मन्त्र विचार – नामक अध्यायों में मन्त्र-जप, पुरश्चरण की विधि, गायत्री जप का विधान और गुरु महिमा और इष्ट-जप का सम्यक् निदर्शन है।

६. साधक चर्या – साधक कैसे समझे कि वह तत्त्व-चिन्तन का अधिकारी हो गया है? इसके उत्तर में पूज्य महाराज जी कहते हैं – ''यदि साधक का मन तत्त्व चिन्तन में लग रहा है, तो वह अधिकारी हो गया है। मैं कौन हूँ और शास्त्र तत्त्व किसे बताता है, जब अन्दर से यह जिज्ञासा, यह तड़पन उत्पन्न हो जाय, तब समझ लेना चाहिए कि तत्त्व चिन्तन की योग्यता उत्पन्न हो गयी है।''

ध्यान के प्रक्षेपों को दूर कैसे करें? उत्तरकाशी के संतों के अनुभव, साधु को क्या श्रवण करना चाहिये? साधु को तीर्थाटन-भ्रमण से क्या लाभ होता है? साधु को भ्रमण किस प्रकार करना चाहिए? इत्यादि का सटीक निदर्शन महाराज ने इस अध्याय में किया है।

७. साधना – साधना कैसे करें? भगवत्प्राप्ति का सरल मार्ग क्या है? इन सब विषयों पर चर्चा की गयी है। कुसंग से कैसे बचें, इस पर महाराज जी कहते हैं – ''व्यक्ति जब कुसंग में हो, तो उसे गुरु-मन्त्र का स्मरण अधिक करना चाहिये और रोज भगवान को अपने कर्मों का हिसाब देना चाहिये। ऐसा करने से उसे संग-दोष नहीं लगेगा। व्यक्ति अपने नियमों में दृढ़ रहे, अपना स्वाभिमान न छोड़े, तो उस कुसंग के प्रभाव से बच जायेगा।''

८. गुरु-तत्त्व और ९. ईश्वर-तत्त्व – इन अध्यायों में गुरुमहिमा, गुरुकृपा, गुरुतत्त्व, गुरु सेवा, परब्रह्म, ईश्वर और अवतार में क्या भेद है? परमेश्वर को प्रसन्न कैसे किया जाय, ईश्वर और देवता में क्या अन्तर है? आदि जैसे गूढ़ विषय पर महाराज जी ने प्रकाश डाला है।

१०. सन्त तथा सत्संग और ११. शरणागति – इन अध्यायों में साधु का लक्षण क्या है? भगवत्-प्रेम का आविर्भाव कैसे होगा? शरणागति का स्वरूप क्या है? इन सबकी चर्चा है।

१२. योग एवं ध्यान – इस शीर्षक में योग के प्रकार और ध्यान में आगत विघ्नों के निवारण का उल्लेख है। एक प्रसंग में महाराज जी कहते हैं, ''साधक को दुनिया की आलोचनाओं को महत्त्व नहीं देना चाहिए। केवल आत्म-परीक्षण कर कि लाभ हो रहा है या नहीं, ध्येय में अपना मन केन्द्रित करना चाहिये। दुनिया तो कुछ भी कह सकती है –

जो इस नगरी में रहते हैं,
उन्हें बावरे बावरे कहते हैं।
जो ताने जग के सह न सके,
वो इस नगरी में आवे क्यों?
जो छोड़ खुदी खुद मर न सके,
प्रियतम से नैन मिलावे क्यों?

प्रियतम का वही हो सकता है, जो संसार की परवाह ने करके, अपने अहंकार को छोड़कर उसकी शरण ग्रहण करे।''

१३. दोष विचार एवं उनका निवारण – इस अध्याय में जीवन के व्यावहारिक पहलुओं पर विचार किया गया है। जैसे – मनुष्य जीवन में कितने प्रकार के अपराध की संभावना है? क्रोध आने पर क्या करें? मन को निर्वासनिक कैसे बनायें। पाठ-अशुद्ध होने पर क्या करें? आदि।

१४. धर्मजिज्ञासा – इसमें रामराज्य तात्पर्य को एक सेठ के दृष्टान्त से महाराज जी ने बताया है। भस्म क्यों लगायें? रुद्राक्ष, गोसेवा, गोधूलि-स्नान का तात्पर्य, यज्ञोपवीत संस्कार आदि पर चर्चा है।

१५. देवपूजन तथा कर्मकाण्ड – महादेव को बिल्व-

पत्र क्यों प्रिय है, दुर्गासप्तशती पाठ का क्या विधान है? जप माला का संस्कार, महात्माओं की पुण्यतिथि क्यों मनाते हैं।

१६. प्रारब्ध, पुण्य-पाप तथा संस्कार – प्रारब्ध और भाग्य में क्या अन्तर है? क्या प्रारब्ध को पुरुषार्थ से काटा जा सकता है? संस्कार कब नष्ट होते हैं? क्या पाप-पुण्य कर्म इसी जन्म में भोगे जाते हैं, इसे एक सत्य घटना से महाराज ने स्पष्ट किया है।

१७. तीर्थ महिमा – तीर्थों में जाने से और वहाँ साधना करने से विशेष क्या लाभ होता है? माँ नर्मदा का प्राकट्य कैसे हुआ और उनकी परिक्रमा के नियम क्या हैं? असमर्थ व्यक्ति नर्मदा परिक्रमा कैसे करे?

१८. व्रत एवं पर्व – महाशिवरात्रि व्रत, गुरु-पूर्णिमा क्यों मनाते हैं? व्रत के अनिवार्य नियम क्या हैं, इसका सोदाहरण विवेचन है।

१९. शास्त्र समीक्षा – इस अध्याय में शास्त्रीय प्रश्नों का समाधान है। जैसे आगम और निगम में क्या अंतर है? संस्कृत भाषा की महिमा के सम्बन्ध में महाराज जी कहते हैं – ''संस्कृत ऐसी भाषा है, जिसमें ऐसा वर्णन पढ़ने पर भी मन में विकार नहीं आता। वही बात हिन्दी या अन्य भाषा में कहें, तो खराब लगती है। संस्कृत में जो वर्णन किया जाता है, वह स्वाभाविक होता है और स्वाभाविकता में गलत वृत्ति नहीं आती। अन्य भाषाओं में ऐसा सामर्थ्य नहीं होता है, यह एक रहस्य है, जिसे संस्कृत भाषा से अनभिज्ञ व्यक्ति नहीं समझ सकता।''

२०. तपस्या – तपस्या कैसे करें और शास्त्र में इसका वास्तविक स्वरूप क्या कहा गया है?

२१. संन्यास – संन्यास धर्म क्या है? जीवन-मुक्ति में संन्यास की क्या उपयोगिता है? त्याग और वैराग्य में क्या भेद है? एक सच्चे संन्यासी के व्यवहार को राजा के दृष्टान्त के साथ समझाया गया है।

२२. सुख-दुख – व्यक्ति दुखी क्यों होता है? सदा प्रसन्न कैसे रहें ?

२३. ज्ञानी की स्थिति – ज्ञानी-पुरुष की पहचान क्या है तथा ज्ञानी की संसार के प्रति कैसी दृष्टि होती है? सहज समाधि प्राप्त महापुरुष का लोक व्यवहार कैसा होता है? इन सब विषयों पर प्रकाश डाला गया है।

२४. विविध – क्या पुनर्जन्म सत्य है? इसकी पुष्टि में महाराज जी कहते हैं – ''हमने स्वयं अपने पूर्वजन्म की लंबी घटना को प्रत्यक्ष देखा है, उस शरीर को भी देखा है और अनुभव भी किया है। हम कैसे मान सकते हैं कि पुनर्जन्म नहीं होता है ! एक बालक की घटना को भी हमने देखा है।'' माता-पिता की मृत्युपरान्त उनकी सेवा कैसे करें? हृदय तत्त्व क्या है? क्या भूत-प्रेत होते हैं? जाग्रत-स्वप्न में क्या भेद है? राम-रावण केवल प्रतीक हैं या ऐतिहासिक सत्य है? स्वाभिमान और अभिमान में तथा प्रेम एवं भोग में क्या अंतर है? शास्त्रज्ञ महात्मा और शास्त्रज्ञ गृहस्थ में क्या अन्तर है? इत्यादि कठिन एवं जीवनोपयोगी विषय-वस्तु का प्रतिपादन पूज्य महाराज जी ने किया है।

इस प्रकार यह ग्रन्थ जिज्ञासुओं के लगभग सभी प्रकार की शंकाओं का समाधान करने में सक्षम है। वास्तव में यह ग्रन्थ तो 'गागर में सागर' जैसा है।

पुस्तक का अरुणिमामय आवरण-पृष्ठ (कवर पेज) ज्ञान का प्रतीक दीप-ज्योति से उद्‌भासित है। अन्दर के दोनों आवरण-पृष्ठों में पूज्य पाद महाराज के दो बड़े ही भव्य चित्र हैं, जिसमें एक में महाराज जी जिज्ञासुओं के प्रश्न अवलोकन की मुद्रा में हैं तथा तीसरे आवरण-पृष्ठ में जिज्ञासा-समाधान करने की मुद्रा में हैं। चौथा आवरण-पृष्ठ अखण्ड अद्वैत का प्रतीक अखण्ड ज्योति से प्रकाशित है तथा इसी पुस्तक के उद्धरण से सुशोभित है – ''**परमात्मा सत्य वस्तु है और सत्य को प्राप्त करने के लिये जीवन में सत्य का आधार अवश्य लेना पड़ेगा।**''

यदि जिज्ञासा करते हुये जिज्ञासुओं के भी कुछ चित्र तथा प्रश्न-स्थान से संबंधित मार्कण्डेय आश्रम और अन्य संबंधित स्थानों के चित्र भी दिये गये होते, तो और भी अच्छा हुआ होता। इस उत्तम कृति के लिये हम पूज्य महाराज जी के चरणों में साष्टांग प्रणाम करते हैं तथा प्रकाशक, सम्पादक-मण्डल एवं उनके सभी सहयोगियों के प्रति आभार प्रकट करते हुये, पुस्तक के अगले खण्ड की प्रतीक्षा में निरत हैं।

* * *
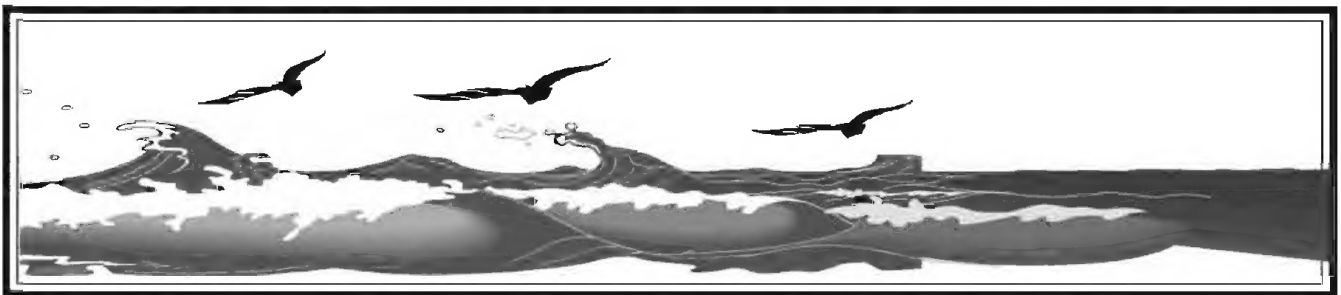
Sri Ramakrishna Math

New Natham Road, Reserve Line, Madurai – 625 014, Tamil Nadu
Ph:0452-2680 224, email: rkmath@dataone.in
srirkmathmadurai@gmail.com,web:rkmath.net

प्रिय भक्तो,

मदुरै नगर श्री मीनाक्षी देवी का एक पवित्र तीर्थ और दक्षिण भारत के महानतम तीर्थों में से एक है। वर्तमान में मदुरै का हमारा मठ निम्नलिखित सेवाएँ संचालित कर रहा है –

(१) धार्मिक कार्यक्रम – नित्य तथा विशेष पूजा, महत्त्वपूर्ण उत्सव, आध्यात्मिक प्रवचन, साधना-शिविर, अखण्ड नामजप, युवा सम्मेलन, स्कूलों तथा कॉलेजों के लिये व्यक्तित्व विकास शिविर और शिक्षकों के लिये आध्यात्मिक शिविर का आयोजन किया जाता है।

(२) धर्मार्थ चिकित्सालय – एलोपैथी तथा होम्योपैथी दातव्य चिकित्सालयों के द्वारा निर्धन लोगों को चिकित्सकीय सहायता तथा मुफ्त दवाएँ उपलब्ध करायी जाती हैं। आम जनता तथा निर्धनों के लिये नि:शुल्क चिकित्सा शिविर तथा नेत्र-चिकित्सा शिविरों का भी आयोजन किया जाता है।

(३) मुफ्त कोचिंग केन्द्र – आसपास के झुग्गी-झोपड़ियों में रहनेवाले निर्धन तथा पिछड़े बालकों के लिये प्रतिदिन संध्या के समय (५ से ८ बजे तक) एक मुफ्त कोचिंग सेंटर चलाया जाता है। नि:शुल्क सरकारी स्कूलों तथा कॉलेजों में पढ़नेवाले बालकों को भी अतिरिक्त कोचिंग की जरूरत होती है, परन्तु इसके लिये उनके पास संसाधन नहीं होते।

प्रतिवर्ष नये शैक्षणिक सत्र के प्रारम्भ में मुफ्त कोचिंग सेंटर के सभी छात्रों में पुस्तकों का पूरे सेटों तथा कापियों का वितरण किया जाता है। हर शैक्षणिक सत्र में स्कूलों तथा कॉलेजों के अभावग्रस्त छात्रों को आर्थिक सहायता भी प्रदान की जाती है। पिछले वर्ष निर्धन तथा उपयुक्त छात्रों के बीच रु. ८२,४८४/- रुपयों के नोटबुक्स तथा रु. २,४५,९५०/- रुपयों की छात्रवृत्तियाँ वितरित की गयीं।

(४) अन्नदानम् – झुग्गी-झोपड़ियों के निर्धन बच्चों को भोजन – प्रतिदिन सुबह सात बजे मठ-प्रांगण में आसपास के २८० निर्धन बालकों को नाश्ता कराया जाता है।

दान के लिये अपील – हमारा हार्दिक अनुरोध है कि आप आगे बढ़कर इन उत्तम कार्यों में उदारतापूर्वक अपना आर्थिक सहयोग प्रदान करे।

५००० तथा इससे अधिक की राशि के दान एनडोमेंट के रूप में दिया जा सकते हैं।

दानराशि के चेक या डी.डी. ''रामकृष्ण मठ, मदुरै'' के नाम से बनवाकर उपर्युक्त पते पर भेज दें। इन दानों पर आयकर विभाग की धारा ८०-जी के अन्तर्गत छूट भी मिलती है। छोटी-बड़ी हर प्रकार की दानराशि को धन्यवाद पूर्वक स्वीकार तथा सूचित किया जायेगा।

सबके कल्याण हेतु मदुरै की श्री मीनाक्षी, श्री सुन्दरेश्वर, भगवान श्रीरामकृष्ण, श्रीमाँ सारदादेवी तथा स्वामी विवेकानन्द को प्रार्थना करते हुए हम यहीं उपसंहार करते हैं।

प्रभु की सेवा में आपका
स्वामी कमलात्मानन्द
अध्यक्ष